Chapter-1

==

:: अध्याय : एक :: विषय-प्रवेश

:: ओशो का जीवन और व्यक्तित्व ::

==

:: पहला अध्याय ::

=========

: : विषय-प्रवेश : ओशो का जीवन और व्यक्तित्व ::

ओशो-रजनीश न केवल भारतवर्ष अपितु विश्व के एक विवादास्पद व्यक्ति एवं मनीषी विचारक हैं । साहित्य , समाज , व्यक्ति , देश , प्रेम , धर्म, दर्शन , समाजशास्त्र , मनोविज्ञान , विज्ञान , प्रौद्योगिकी प्रभृति अनेकानेक विषयों पर एक स्वतंत्र दृष्टिपात उनके समग्र कृतित्व में दृष्टि-गोचर होता है । वे लकीर की फकीर पिटने वाले लोगों में नहीं हैं । दो और दो ही चार नहीं होते , और भी तरीके हैं , और भी अकीदे हैं । जीवन को हमेशा प्रयोगों की दरकार रही है ।

जीवन को "जीवन" ऐसे ही प्रयोगदर्शी मनीषियों से मिलता रहा है । ऐसे "अलीकपंथी" लोग ही जीवन को नयी तरह से तराशते और तलाशते हैं । "कुछ लोग होते हैं — चिंतन , कला या विज्ञान के क्षेत्र में — जो प्रतिभाशाली होते हैं और कभी-कभी यह दुनिया उन्हें सम्मानित करती

हैं । लेकिन ओशो रजनीश अकेले हैं , बिलकुल अकेले । यह दुनिया सम्मानित हुई , यह देश सम्मानित हुआ । " [1]

ओशो रजनीश एक महान क्रांतिकारी स्वतंत्रचेता विचारक रहे हैं । उनकी इस स्वतंत्र-चेतना की प्रतीति तो केवल इसी एक तथ्य से होती है कि वैचारिक स्वतंत्रता का ढोल पिटने वाले गालिबन चालीस जितने देशों ने उनके प्रवेश को निषिद्ध कर दिया था ; क्योंकि इतिहास में अभी तक मानवीय चेतना को ऊपर उठाने के जितने भी प्रयास हुए हैं , उन सबका हिंसक विरोध हुआ है ; खासकर व्यवस्था ﴾या कुव्यवस्था ? ﴿ को बनाये रखने वाले न्यस्त स्वार्थों की ओर से । नयी जीवन-दृष्टि देनेवाले लोगों को हमेशा पंडित-पुरोहितों और राजनेताओं द्वारा सताया गया है और दुःख इस बात का है कि फिर यही राजनेता और पंडित-पुरोहित उन दार्शनिकों की कब्रों पर व्यवस्थापित धर्मों की नींव रखते हैं । [2]

ओशो-रजनीश की स्वतंत्र-चेतना या स्वतंत्राभिमुखी अभिगम का संकेत हमें उनके इस कथन में प्राप्त होता है — " फ्रेन्च लोग सोचते हैं कि उन्हें दूसरे मनुष्यों से संवाद करने की कोई जरूरत नहीं है ; वे अपने-आप में ही संतुष्ट हैं । इतना बन्द हो जाना एक खतरनाक बीमारी है । मैं यह नहीं कह रहा हूं कि फ्रेन्च लोगों के पास कोई महान दर्शन , कोई महान चिन्तन या साहित्य नहीं है । वह सब उनके पास हैं । मैं यह नहीं कह रहा हूं कि फ्रेन्च भाषा संसार की सुंदरतम भाषाओं में से एक नहीं है । फ्रेन्च निश्चय ही सुंदर भाषा है । लेकिन ये सब चीजें तुम्हारे दिमाग को बन्द करने के कारण नहीं बनने चाहिए , इन सबके कारण तो तुम्हें और भी खुलना चाहिए । " [3]

अतः हम यहां सुएपल्टन महोदय से सहमत होते हुए कह सकते हैं कि भगवान श्री रजनीश ईसा मसीह के पश्चात् सर्वाधिक विद्रोही व्यक्ति हैं । [4] अभिप्राय यह कि ओशो रजनीश इस शताब्दी के बहुविवादित एवं बहुचर्चित

मनीषी रहे हैं । यहां सर्वप्रथम उनके जीवन-क्रम पर दृष्टिपात करने का हमारा उपक्रम है ।

शैशवकाल :

भगवान श्री रजनीश का जन्म 11 दिसम्बर सन् 1931 को मध्यप्रदेश के कुचवाड़ा नामक ग्राम में हुआ था । उनके पिताजी का नाम श्री बाबुलाल खाटे और माताजी का नाम सरस्वतीदेवी था । खाटे परिवार जैन धर्मावलंबी था । उनका वस्त्र इत्यादि का व्यापार था और उनके परिवार की गणना संपन्न एवं कुलीन परिवारों में होती थी । परिवार के वे ज्येष्ठ पुत्र थे । उनके प्रथम सात वर्ष नानी-नाना के साथ बीते । वे बालक रजनीश की स्वतंत्र प्रवृत्तियों में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालते थे और उन्हें अपनी इच्छानुसार व्यवहार करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी ।[5] इस प्रकार यह गौरतलब है कि ओशो रजनीश की स्वतंत्र-चेतना के बीज उनके शैशवकालीन जीवन में ही पड़े हुए थे ।

रोनाल्ड कोनवे जो कि आस्ट्रेलिया में प्राध्यापक, लेखक और मनोवैज्ञानिक हैं, उन्होंने सन् 1980 में अपनी एक रिपोर्ट में लिखा है —

"उनके आसपास कुछ मीटर की दूरी पर होना कुछ विलक्षण परिणाम लाता है ; उसका स्रोत कुछ भी हो लेकिन रजनीश - ओशो में कोई विलक्षण-शक्ति और चुंबकत्व है जो इतनी सुपरनेचरल है कि महसूस की जा सके । ...... उनको देखकर मुझे लगा कि शायद "ईसा मसीह" इस तरह के रहे होंगे ।"[6]

कुछ इसी प्रकार का अभिप्राय बर्नार्ड लेविन का है, जो रूढ़िवादी सामाजिक समीक्षकों में तीखे वाग्बाणों का प्रयोग करने में सिद्धहस्त हैं । वे जब सन् 1980 में रजनीश आश्रम देखने आये तो उनके उद्‌गार इस प्रकार थे — " उस व्यक्ति से मैं एकदम सम्मोहित हो गया और उनके

आसपास रहनेवालों से भी । रजनीश एक अनूठे शिक्षक हैं ... और एक असाधारण चुम्बक । • 7

तात्पर्य यह कि "होनहार बिरवान के होत चिकने पात " इस बात का संकेत हमें उनके शैशवकालीन जीवन से ही उपलब्ध होने लगता है । नाना-नानी के लाड़-प्यार के कारण उनका शैशवकालीन जीवन अनिर्बन्ध , अनियंत्रित अनानुशासित रहा , जिसके कारण गांव के बड़े बुजुर्ग तथा पड़ोसियों की शिकायतें निरंतर चलती रहती थीं । परन्तु इस परवरिश के कारण ही उनमें एक जन्मजात विद्रोही स्फुल्लिंग की उद्भावना हुई जिससे उनका समग्र जीवन-कथन संपृक्त है ।

बालक रजनीश बाह्यतः भले ही अनियंत्रित या अनिर्बन्ध हों , भीतर से एक अनुशासन या बन्ध मिलता है , जो उनके स्वतंत्र चिन्तन-मनन से उद्भूत हुआ है और जिसने उनको एक दृढ़ निश्चयी किशोर बनाया है । वे लोगों के आदेशों को ही ताक पर न रख देते थे , पर समाज द्वारा स्थापित नियमों और स्वीकृत आचरणों के ढांचों को भी ताक पर रखने का साहस दिखाते थे । हर स्वीकृत विश्वास तथा धारणा को वे सहजतया स्वीकार न करके उस पर अपनी संदेहात्मक बुद्धि से अनेक प्रश्नचिह्न उकेर देते थे । आधुनिक काल के एक ऐसे ही चर्चित कवि मदनमोहन "तरुण" ने अपने "तब चार्वाक बोले" नामक काव्य में लिखा है --

"अंधविश्वासों की हद तक समर्पण छल है / ... हर प्रतिष्ठित मूर्ति की परीक्षा करो / बहुत संभव है वहीं हो पिशाचों का घर / ... कुछ भी सनातन नहीं / कुछ भी नहीं है पूर्ण / प्रतिपल सजगता से / खुद को भी जांचो / जितना भी हो कोई श्रद्धा का पात्र / भूलो मत उसको भी आग में आंचो । • 8

वस्तुतः जीवन को हमेशा प्रयोगों की दरकार रही है और रजनीश किसी भी प्रस्थापित सत्य को अपने निजी प्रयोगों की खराद पर चढ़ाये बिना स्वीकृत नहीं करते थे । तर्क और संगति तथा ज्ञान की

कसौटी पर अपरीक्षित रहने वाले तत्वों को वे हमेशा नकारते रहे । उनके ये शैशवकालीन प्रयोग अपेक्षाकृत निरीह थे लेकिन उनमें भावी घटनाओं की पगध्वनि सुनाई पड़ती है । इस बात को ज्ञापित करने के लिए उनके शैशव-काल के एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य रहेंगे ।

उनके पड़ोस में बालाजी नामक एक सज्जन रहते थे । वे सुबह-शाम तीन-तीन घण्टे जोर-शोर से भजन-कीर्तन करते थे । उनके इस भजन-कीर्तन से बहुतों को असुविधा होती थी , परन्तु इसे धर्म का मामला समझकर बालाजी को कुछ कहने की हिम्मत का लोगों में अभाव था । परंतु बालक रजनीश कहां इन सबकी परवाह करने वाले थे ? एक दिन उन्होंने बालाजी से पूछा कि तुम भगवान से क्या मांगते हो ? मेरे दादा तो कहते हैं कि तुम डरपोक हो इसलिए प्रार्थना करते हो । बालाजी ने इस बात का जोर-दार शब्दों में विरोध किया तो किशोर रजनीश ने उनकी परीक्षा लेने का निश्चय किया । यहां एक बात का स्मरण रहे कि छुटपन से ही रज-नीश के परिचय एवं मित्रता के वृत्त में जो लोग आते थे वे बड़े विचित्र और भिन्न-भिन्न क्षेत्र के माहिर लोग होते थे ; जिनमें कुश्तीबाज , सपेरे , जादूगर , संगीतज्ञ , पियक्कड़ , सरकस के कलाकार और सभी किस्म के जरायम पेशा बनजारे हुआ करते थे ।[9]

अतः दूसरे दिन रजनीश ने अपने चार पहलवान मित्रों को इस कार्य के लिए राजी कर लिया । बालाजी अपनी बगिया में एक खाट बिछाकर सोते थे । पास ही एक कुंआ था । आधी रात को उन पहलवानों ने बालाजी को खाट समेत उठाकर कुंए की जगत पर रख दिया । फिर सब लोग झाड़ियों में छिप गये और पत्थर फेंककर बालाजी को जगाने का प्रयत्न करने लगे । जैसे ही बालाजी की नींद खुली तो मारे भय के एक गगनभेदी चीख उनके मुंह से निकल गई , जिसे सुनकर पास-पड़ोस के सभी लोग जाग गये और एक अच्छी-खासी भीड़ इकट्ठी हो गई । तब भीड़ के बीच से निकलकर रजनीशजी ने पूछा — मामला क्या है ? तुमने

अपने भगवान को क्यों नहीं पुकारा ? तुम हररोज छः घण्टे अभ्यास करते हो , लेकिन भगवान् को भूल गये । चीख ही याद आयी । " 10

इस प्रकार उन्होंने बालाजी की छद्म , पाखंडी और भक्ति-प्रदर्शन से युक्त खोखली वृत्ति का सबके सामने पर्दाफाश किया । इस प्रकार गांव की धार्मिक सभाओं में वे सीधे-सादे किन्तु अनुत्तरीय प्रश्न पूछकर साधु-महात्माओं और आध्यात्मिक क्षेत्र के विद्वानों की बोलती बन्द कर देते थे । एक बार एक जैन साधु से उन्होंने प्रश्न किया — " इस सुंदर विश्व को किसने बनाया ? " जैनगण ईश्वर में विश्वास नहीं करते , सो उन्होंने कहा — " किसीने नहीं बनाया । " रजनीश ने पूछा कि यदि किसीने नहीं बनाया तो फिर यह अस्तित्व में कैसे आया ? रज-नीश के प्रश्न से वे जैनमुनि निरूत्तर हो गये , इससे उनकी विद्वत्प्रतिभा को भी हानि पहुंची और फिर वे दुबारा उस गांव में कभी नहीं आये ।

जहां गांव के दूसरे लोग रजनीश की इन प्रवृत्तियों से थोड़ा-बहुत चिढ़ते या खिझते थे , वहां उनके नाना-नानी उनकी इस बुद्धि-शक्ति पर नाज़ करते थे । इन दिनों के संबंध में स्वयं रजनीश ने कहा है — " जहां तक मेरी स्मृति जाती है , मैं सिर्फ़ एक ही खेल पसंद करता था , तर्क करना। इसलिए बहुत कम बुजुर्ग मुझे बरदाश्त कर पाते थे । मुझे समझने का तो प्रश्न ही नहीं उठता । " 11

रजनीशजी के उक्त कथन में हमारी समाज-व्यवस्था तथा धर्म-व्यवस्था पर एक करारा व्यंग्य निहित है । हम लोग एक साथ शायद अनेक बातों को गुम्फित कर देते हैं , हमारी कुछ बातें भावनात्मक , तो कुछ बातें तर्कप्रधान होती हैं । फलतः एक तर्क-संगत रास्ते पर चलना कई बार कठिन-सा प्रतीत होता है । यही कारण है कि बुजुर्ग लोग तर्क से कतराते हैं । अतः तर्क को लेकर चलने वाले व्यक्ति को

समझने की कोई जेहमत ही वे नहीं उठाते या नहीं उठाना चाहते । परिणाम-स्वरूप अपने चौखटे में न आने वालों को वे discard करते हैं । वस्तुतः वे कुछ नया , अप्रत्याशित नहीं चाहते । वे तो अपनी ही बात का दृढ़ीकरण चाहते हैं । सुप्रत्याशित का स्वागत करते हैं । "धेनुमुद्रा" वाले लोगों को वे पसंद करते हैं ।

अपने इस तर्कप्रधान व्यक्तित्व के कारण रजनीशजी सात साल तक अनिर्बन्ध और अशिक्षित ही बने रहे । सन् 1938 में उनके नानाजी का देहान्त हुआ । इन प्रारंभिक वर्षों की चर्चा वे बड़े प्यार और ललक से करते हैं — " शुरू से ही मेरे साथ कुछ गड़बड़ हो गई , और उसका कारण यह था कि प्रथम सात साल मैं अपने नाना-नानी के पास रहा । उन दो बूढ़े व्यक्तियों का मुझमें कोई निहित स्वार्थ नहीं था । वे सिर्फ मुझे प्रेम करते थे । मैं केवल एक मेहमान था । .... उनका मेरे प्रति व्यवहार एक ऐसी मनोवृत्ति से आता था जो माता-पिता में संभव नहीं । उन्होंने मुझे मुझ-सा होने की सम्पूर्ण स्वतंत्रता दी । किसी प्रकार मैं सभ्यता की पकड़ से बाहर ही रह गया । मैं सचमुच पक्का व्यक्तिवादी बन गया , बहुत सख्त । एक अनोखे संयोग से मैं अपने माता-पिता से बच गया । जब तक मैं उनके पास पहुंचा , तब तक , करीब-करीब मैं एक स्वतंत्र व्यक्ति बन चुका था । मुझे पंख निकल आये थे । मुझे पता था कि मुझे निर्मित करने के लिए किसीकी सहायता की जरूरत नहीं है । " [12]

परन्तु वस्तुतः देखा जाय तो रजनीशजी को शैशव के सात वर्षों में नाना-नानी का जो निर्व्याज एवं निस्वार्थ प्रेम मिला , उससे उनके व्यक्तित्व की जड़ें और भी पुख्ता हो गयीं , क्योंकि शैशव ही वह उम्र है , जब बच्चे को यदि प्यार की तरी मिल जाय तो उसकी जिन्दगी संवर जाती है । प्रेमचन्द के एक उपन्यास "कर्मभूमि" का नायक अमर-कान्त यही बात कहता है — " जिन्दगी में वह उम्र , जब इन्सान को

मुहब्बत की सबसे ज्यादा जरूरत होती है , बचपन है । उस वक्त पौधे को तरी मिल जाय , तो जिन्दगी-भर के लिए उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं । उस वक्त खुराक न पाकर उसकी जिन्दगी खुश्क हो जाती है । " 13

बारहवीं टिप्पणी में जो कथन उद्धृत है उससे रजनीशजी की विद्रोही शख्सियत तो प्रकट होती ही है , साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि माता-पिता अपने बच्चों को अपने ढंग में ढालना चाहते हैं , इस बात को वे प्रारंभ से ही नापसंद करते हैं । पालन-पोषण और समीचीन परिवेश एक बात है , पर पौधे का विकास तो अपने नैसर्गिक ढंग से ही होना चाहिए । जमीन पर अपने बलबूते से हवापानी को×ग्र×हण× ग्रहण करते हुए खुशमिजाज पौधे और गमले के पौधे में एक मूलभूत अंतर हमेशा रहता है । यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे माता-पिता हमें गमलों के पौधों का रूप देना चाहते हैं । और इतिहास इस बात का गवाह है कि इसका निर्माण नैसर्गिक हवा में पलने वाले पौधों ने बनाया है , न कि गमले के पौधों ने । माता-पिता अपने बच्चों को पूर्वोक्त शास्त्र-प्रबोधित , परंपरानुमोदित , लीक पर चलने की बात करते हैं और इस कारण वे उनकी नैसर्गिक शक्ति-प्रतिभा को कुंठित करते हैं ।

इस सन्दर्भ में आचार्य रजनीश ने श्री हरकिशनदास अग्रवाल {बम्बई- अब मुंबई} को उनके एक प्रश्न के उत्तर में लिखा था --

"शास्त्र में स्वयं अनुभूति नहीं है , यद्यपि उनका जन्म अनुभूति से हुआ है । जैसे शब्दकोश के "घोड़े" में , घोड़ा नहीं है , ऐसे ही शास्त्रों के शब्दों में भी सत्य नहीं है । ` अश्वशब्दकोश××शब्द×शब्दकोश×में×है× घोड़ा अस्तबल में है , "घोड़ा" शब्द शब्दकोश में है । परमात्मा अनुभूति है । `परमात्मा` शब्द शास्त्र में है , और शब्द `परमात्मा` परमात्मा नहीं है । उसे पाना हो तो सब शब्दों को छोड़ना पड़ेगा और शास्त्रों में शब्द ही

हैं । शास्त्र में वह नहीं मिलता है । शास्त्र उसे कहने की चेष्टा करते हैं, जो कहा नहीं जा सकता, इसलिए जो शास्त्र सत्य होने का दावा करता है वह इसी कारण असत्य हो जाता है । जो जानता है, वह यह भी जानता है कि जो जाना गया है, वह कहा नहीं जा सकता है । शास्त्र होने के दावेदार साहित्य में यह विनम्रता नहीं होती है और इसलिए मैं शास्त्र को विक्षिप्त हो गया साहित्य कहता हूं । ऋषि सत्य को कहने की चेष्टा करते हैं, लेकिन कह नहीं पाते हैं । असल में जिसे मौन में पाया है उसे शब्द में नहीं कहा जा सकता । अनुभूति है अनंत और अभिव्यक्ति है सीमित । अनुभूति है मनोतीत (Beyond Mind) और अभिव्यक्ति है मानसिक, और इसलिए सत्यानुभूति और सत्याभिव्यक्ति में तालमेल असंभव है । शास्त्र इसके प्रमाण हैं । " 14

साहित्य भी अनुभूति पर आधारित है, परंतु साहित्यकार सत्यानुभूति का दावा नहीं करता । वस्तुतः अनुभूति की अभिव्यक्ति असंभव है । इसे साहित्य तो स्वीकार करता है, शास्त्र नहीं । शास्त्र की इस मर्यादा के संबंध में उन्होंने हरकिशनदास अग्रवालजी को ही अन्यत्र ~~कहा है~~ कहा है, जो उल्लेखनीय हैं --

"मैं साहित्य का विरोधी नहीं हूं लेकिन शास्त्रीयता का (authority) अवश्य विरोधी हूं । शास्त्रीयता सत्य की शत्रु है । सत्य का दावा ही सत्य की शत्रुता है । सत्य सदा विनम्र और शास्त्र सदा अविनम्र । सत्य का कोई सम्प्रदाय नहीं है । सत्य का कोई मत नहीं है । वस्तुतः जहां मतों का अन्त है, वहीं सत्य का प्रारंभ है । लेकिन शास्त्र का मत है । शास्त्र अर्थात् मत । गीता साहित्य के रूप में अनुपम है, लेकिन शास्त्र के रूप में खतरनाक । कुरान साहित्य के रूप में अद्वितीय है, लेकिन सम्प्रदाय के रूप में अत्यंत विषाक्त । इसी तरह मैं चाहता हूं साहित्य हो, लेकिन शास्त्र न हो । साहित्य मुक्त करता है, शास्त्र

बांधता है । "15

वस्तुतः शास्त्र केवल अर्थ को लेकर चलता है , जब कि साहित्य शब्द और अर्थ दोनों को लेकर चलता है और शब्द के देशकाल सापेक्ष अनेक अर्थ हो सकते हैं । इसीलिए लाओत्से ने कहा था — "सत्य कभी कहा नहीं जा सकता । " 16

अतः बच्चे का लालन-पालन हम शास्त्रोक्त ढंग से करना चाहते हैं , तो उसके विकास की अनंत संभावनाओं का हम गला घोंट देते हैं । बच्चे का उचित लालन-पालन तो साहित्य वाले ढंग से — नैसर्गिक ढंग से — प्रकृतिजन्य स्वभाव से , अनंत संभावनाओं से युक्त ऐसे ढंग से ही हो सकता है ।

रजनीशजी की स्कूली-शिक्षा :

जैसा कि पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है , नाना के देहान्त के उपरांत रजनीश तथा उनकी नानीजी उनके पिता के गांव गाडरवारा (म.प्र.) रहने आ गये । वहाँ पहली बार उन्हें पाठशाला का अनुभव हुआ । उनके ही शब्दों में कहें तो पाठशाला में डालने का यह कार्य "किसी कैद खाने में घसीट जाने के " मानिन्द प्रतीत होता था । नाना-नानी द्वारा दी गई स्वतंत्रता तथा उनके भीतर उपजी अन्तः चेतना के कारण पाठशाला में उन्हें एक विद्रोही व्यक्तित्व के रूप में जाना जाने लगा । उनकी स्पष्टवादी और स्वतंत्र चिंतन-प्रणाली परंपरावादियों को भला कैसे प्रीतिकर हो सकती थीं ?

स्कूली-शिक्षा के दिनों से ही उनकी जागरूकता को लक्षित किया जा सकता है । शिक्षा-संहिता की प्रति वे कहीं से प्राप्त कर लेते हैं और कोई शिक्षक यदि उन्हें किसी ऐसे अपराध के लिए दण्डित करता जिसका कि साफ-साफ निर्देश उस संहिता में न हो तो ये बिना किसी झिझक और लाग-लपेट के उस शिक्षक को प्रधान अध्यापक के सामने

उपस्थित कर देते और कहते -- " इसमें ऐसा कहां लिखा है कि इस उदास, मुर्दा, ब्लेक-बोर्ड की तरफ देखने के बजाय मैं खिड़की के बाहर बिखरे हुए प्राकृतिक सौन्दर्य को नहीं निहार सकता ? " [17]

शिक्षकों पर प्रश्नों की झड़ी बरसाने, उलटे जवाब देना तथा किसी तरह की गड़बड़ी या उधम के कारण, उन्हें अधिकांश समय कक्षाओं के बाहर रहना पड़ता था। वस्तुतः ये वही चाहते थे, क्योंकि शिक्षा-विषयक उनकी परिकल्पना परंपरागत लोगों की संकल्पनाओं से नितान्त भिन्न प्रकार की थी। वे उस हर बात के लिए कृतसंकल्प रहते थे जिसकी परंपरागत समाज में आज्ञा न थी। बाद में उनके शिक्षा-विषयक जो विचार हमें प्राप्त होते हैं, उनके बीज हमें यहां दृष्टिगोचर होते हैं।

शिक्षा के संबंध में उन्होंने अपने पूना के प्रवचनों-व्याख्यानों में एक स्थान पर कहा है -- " मनुष्य जाति का समूचा इतिहास एक महा विपदा रहा है और जब तक हम व्यक्ति के रूप में विद्रोह न करने लगें, सारी राष्ट्रीयताएं, सारे धर्म, सारी जातियां छोड़कर -- और घोषणा करें कि यह पूरी दुनिया हमारी है और नक्शों पर खींची गई सारी रेखाएं नकली और झूठी हैं ; जब तक व्यक्ति सारी शिक्षा-प्रणाली को बदलना न शुरू कर दें .... शिक्षा प्रणाली को तुम्हें जीने की कला सिखाना चाहिए, उसे तुम्हें प्रेम की कला सिखाना चाहिए, उसे तुम्हें ध्यान की कला सिखाना चाहिए, अन्ततः उसे तुम्हें गरिमापूर्ण ढंग से मरने की कला सिखाना चाहिए। तुम्हारी शिक्षा-प्रणाली शैक्षिक नहीं है। यह केवल क्लर्क, स्टेशन मास्टर, पोस्टमैन, सैनिक पैदा करती है ; और तुम इसे शिक्षा कहते हो ? तुम्हें धोखा दिया गया है। लेकिन धोखाधड़ी इतने लम्बे काल तक चलती रही है कि तुम सर्वथा भूल चुके हो और तुम अभी भी उस पुरानी कोल्हू की लीक पर चले जा रहे हो। " [18]

उक्त शिक्षा-विषयक ओशो-रजनीश की संकल्पना से हमें उनके क्रांतदर्शी व्यक्तित्व का परिचय मिलता है । वे परंपरागत मान्यताओं को बिना सोचे-समझे स्वीकृत करने में उत्सुक नहीं थे । फलतः ऐसी सभी बातों पर वे संदेह प्रकट करते थे और किसी भी प्रश्न और समस्या के मौलिक स्वरूप को उजागर करने में उन्हें एक चैतसिक आनंद की प्राप्ति होती थी । इसका एक उदाहरण उनके स्कूली-जीवन के दिनों में उपलब्ध होता है । शिक्षक बच्चों को युक्लिड द्वारा प्रदत्त रेखा की परिभाषा समझा रहे थे कि रेखा की लम्बाई तो होती है, पर चौड़ाई नहीं होती है । इस पर आपत्ति उठाते हुए उन्होंने शिक्षक से कहा था -- " एक छोटा बच्चा भी इसे देख सकता है कि सीधी रेखा की युक्लिड की परिभाषा कि उसकी लम्बाई तो होती है, चौड़ाई नहीं, मिथ्या है । आप ही ऐसी रेखा खींचकर दिखा दें जिसकी लम्बाई तो हो, लेकिन चौड़ाई न हो ; या ऐसा बिन्दु जिसकी न लंबाई है, न चौड़ाई है । " 19

उनकी इस बात पर झल्लाते हुए शिक्षक ने उन्हें कक्षा से बाहर निकाल दिया और कहा कि खुद जाकर युक्लिड से यह मामला सुलझाओ । प्रारंभ से ही निरर्थक से लगने वाले नियमों के प्रति उनके मन में एक वितृष्णा का भाव मिलता है । और ऐसे नियमों को हटाने के लिए वे तभी से विद्यार्थियों का नेतृत्व करने लगे थे । जब उन्हें स्कूल में दाखिल किया गया, तब बच्चों के लिए गांधीटोपी पहनना अनिवार्य था, परन्तु उनके लगातार विरोधों के कारण बाद में उस नियम को हटा दिया गया । विद्यार्थियों को कठोर अनुशासन में रखा जाता था । इस संबंध में उन्होंने शिक्षकों के खिलाफ क्रूरता बरतने के जुल्म में पुलिस में कई बार शिकायतें दर्ज करवायीं । उनकी पाठशाला में एक शिक्षक थे जो छोटे बच्चों की ऊंगलियों के बीच पेन्सिल रखकर उन्हें जोर से दबाते

थे कि बच्चा मारे दर्द के चीख उठता था , परन्तु बच्चों की चीखों-पुकार से शिक्षक के पैशाचिक आनंद की पुष्टि होती थी । ओशो-रजनीश ने पाठशाला के अपने पहले दिन ही उस शिक्षक के खिलाफ पहले ~~प्रधान~~x प्रधान अध्यापक , बाद में पुलिस-कमिश्नर और अन्ततः नगर-निगम के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के सम्मुख शिकायत दर्ज की और उस शिक्षक की बर्खास्तगी पर ही दम लिया ।[20]

इस प्रसंग से उनकी कृत-संकल्पता और नीडरता ज्ञापित होती है । हर मामले में उनका अपना एक निजी दृष्टिकोण होता था । उदाहरणार्थ वे किसी भी सजा को सजा के रूप में न लेकर पुरस्कार के रूप में ग्रहण करते थे । अगर उन्हें दौड़कर स्कूल में चक्कर लगाने को कहा जाता तो वे शिक्षक को धन्यवाद देते हुए कहते कि आज प्रातः व्यायाम नहीं कर पाया था , चलिए आपने उसका अवसर दे दिया । यदि बतौर सजा के उन्हें कक्षा के बाहर खड़े होने के लिए कहा जाता तो वे ताजा और शुद्ध हवामें प्रकृति के साथ सांस लेने के गुणों का बखान करते और कक्षा की गंदगी और घुटन से मुक्त होने का आनंद अभिव्यक्त करते ।

थक-हार कर एक शिक्षक ने उनको आर्थिक दण्ड देना चाहा । शिक्षक ने अर्थ-दण्ड वाले रजिस्टर में उनका नाम लिखा तो रजनीश ने उस शिक्षक के नाम के आगे दुगुने दण्ड की रकम लिख दी । इस संबंध में जब प्रधान अध्यापक ने जबाब-तलब किया तो उन्होंने जवाब दिया कि हमारी दण्ड संहिता में कहीं ऐसा तो नहीं लिखा है कि शिक्षक के गलत आचरण पर विद्यार्थी उसे दंडित नहीं कर सकता । प्रधान अध्यापक के यह पूछने पर कि इसमें उस शिक्षक का गलत आचरण कहां आता है , तब तर्क-संगत ढंग से वे कहते हैं कि "शिक्षक ने ह गलत आचरण किया है , पिता को दण्ड देकर , क्योंकि पैसे तो उन्हें ही भरने पड़ेंगे , पुत्र को नहीं जिसने गलती की है । मेरे पिता को दण्ड क्यों मिले ।

उनका इस मामले से कोई सरोकार ही नहीं । जब तक यह शिक्षक अपना दण्ड नहीं भरते , तब तक मैं भी अपना दण्ड नहीं भरने वाला । "[21] और इस प्रकार ये दोनों दण्ड आज तक नहीं भरे गये ।

पाठशाला के वे वर्ष :

जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है रजनीशजी में प्रारंभ से ही कुछ स्वतंत्रचेत्ता और अतएव विद्रोही तत्व विद्यमान थे । अतः सभी प्रकार की पारंपरिकताओं से उनके अंतस् में एक वितृष्णा का भाव मिलता है , जिसके कारण सदैव वे उन पारंपरिकताओं को नष्ट करने में तत्पर दिखते थे । परन्तु यह नष्ट करना नितान्त निषेधात्मक न होकर रचनात्मक प्रकार का हुआ करता था । वस्तुतः वे यथा-स्थितियों ~~xxx~~ को वैज्ञानिक व युगानुरूप स्थितियों में ~~xxxxx~~ रूपान्तरित करना चाहते थे । वे मानव-चिंतन को एक स्वतंत्र एवं यथार्थपरक मोड़ देना चाहते थे । यहां स्व. दुष्यन्तकुमार की कुछ पंक्तियां हमारी स्मृति में कौंध रही हैं —

> "सिर्फ़ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं ,
> मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए । "[22]

इस संदर्भ में वह बहुचर्चित लघु-कहानी की ओर ध्यान जाना भी स्वाभाविक है , जिसमें एक आलसी और काहिल परिवार की जड़ता को तोड़ने के ~~xxxx~~ उद्देश्य से आगंतुक मेहमान ने उनके आंगन के "सहीजन" के पेड़ को काट डाला था । हमारे सम्मुख भी हजारों वर्षों पुराना ऐतिहासिक पेड़ है , जिसके रहते साम्प्रत युग के साथ कदम से कदम मिलाना मुश्किल है । ओशो रजनीश का सदैव यह प्रयत्न रहा कि वे हमारे चिदाकाश में जमे इस वृक्ष को ढहा दें । इसलिए उन्होंने हरचंद कोशिश की है । परंपरा से प्राप्त प्रत्येक बात व घटना को वे एक नये निजी

नजरिये से देखते थे । एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

अभी तक यह समझा जा रहा था कि स्वप्नों से मनुष्य की नींद में विक्षेप पड़ता है , परन्तु ओशो रजनीश ने आधुनिक मनोवैज्ञानिकों —सिग्मण्ड फ्रायड , एडलर , युंग — द्वारा किए गए परीक्षणों के आधार पर यह सिद्ध किया कि यह मान्यता सरासर [illegible]xx भ्रांतिपूर्ण है , बल्कि स्वप्नयुक्त निद्रा ही मनुष्य के चित्त-तंत्र को स्वस्थता प्रदान करती है । यथा — "Now Psychologists say that for the ordinary mind, for the normal mind dreaming is must, ~~If you are not allowed to dream~~, if you cannot dream, If you are not allowed to dream, you will go mad. Previously it was thought that sleep is a necessity. Now the new research says a totally different. The new research says that sleep is not must, it is not sleep which give you rest, it is dreaming which gives you rest. and if you are allowed to dream, you will remain happy, if you are not allowed to dream you will go insane." (23).

• 23

ऐसे ही एक और प्रसंग में भी ओशो रजनीश के विलक्षण दृष्टिक्षेप को देखा जा सकता है , जिसमें शिक्षक दिन के उपलक्ष्य में उन्होंने एक रूढ़ मान्यता को नवीन दृष्टि देने का स्तुत्य प्रयास किया था । यह प्रसंग हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व. डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के संबंध में है । प्रायः लोग यों कहते सुनाई पड़ते हैं कि एक शिक्षक राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुए यह शिक्षक आलम के लिए एक गौरवप्रद घटना है , परन्तु ओशो रजनीश ने तो इस विचार को विपरीत दिशा में ही मोड़ दिया कि कोई शिक्षक राष्ट्रपति बनें उसमें शिक्षकों को गौरवान्वित होने की कोई बात नहीं है , गौरव और गर्व की बात तो तब होती जब कोई राष्ट्रपति शिक्षक बनता । दुनिया की तवारिख देख जाने पर ऐसे हजारों उदाहरण

मिल सकते हैं , जहां लोग निम्न स्थिति से उच्चतम शिखरों पर पहुंचे हैं ।

इस प्रकार काम (Sex) के सन्दर्भ में भी अनेक पंडितों ने बहुत-सी बातें की हैं , परन्तु ओशो रजनीश ने उसे जिस अश्रुतपूर्व साहस के साथ एक नया आयाम उजागर किया है । डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने इस सन्दर्भ में कहा है कि " काम-वासना को अपवित्र या अशिष्ट समझना नैतिक विकृति का ही चिह्न है , यौन प्रवृत्ति अपने आप में कोई लज्जाजनक प्रवृत्ति नहीं है । वह कोई रोग या विकार नहीं है , अपितु एक स्वाभाविक सहज वृत्ति है । " [24]

परंतु ओशो-रजनीश तो उक्त सभी विचारों से आगे जाकर उस विषयानंद को ब्रह्मानंद से जोड़कर कहते हैं कि "जीवन उर्ध्वगामी है । असीम की ऊंचाइयों की ओर उठता है । लेकिन जिस तल से उसका उद्गम है , वह तल है काम (Sex) , जहां से मानव एक अणु के रूप में उद्भूत होकर विश्व के दर्शन करता है । यह बीज है "सेक्स" जो अंकुरित होता है , पल्लवित और पुष्पित होकर एक मानव के रूप में निखरता है । एक नया जीवन जन्म लेता है , एक ऊर्जा प्रस्फुटित होती है ... लोग इस जीवन को प्रसन्नतापूर्वक उठा लेते हैं , बाहों में भरकर हृदय से लगा लेते हैं । परंतु जिस क्रिया से इस जीव ने विश्व के दर्शन किये हैं , उस क्रिया की उपेक्षा करते हैं , उसे गाली देते हैं । " [25]

परंतु ओशो रजनीश ने इस गाली को उठा लिया है और बड़ी निर्भीकता से , बड़े साहस के साथ चुनौती दी है कि यह क्रिया या " यह काम गाली नहीं है , अपमानजनक नहीं है , उपेक्षणीय नहीं है , पर यह आत्मा की शक्ति है और दिव्य है और मनुष्य चाहे तो काम से राम तक की यात्रा सहजभाव से संपादित कर सकता है । " [26]

उपर्युक्त उदाहरण यहां इस लिए चर्चित हुए हैं कि उनमें हमें वे बीज प्राप्त होते हैं, जिनसे आगे चलकर ओशो रजनीश की प्रतिभा एवं चिंतन के नये क्षितिज उद्घाटित हुए हैं। अपनी पाठशालाकालीन शिक्षा के दौरान ही उनकी कतिपय विद्रोहात्मक मुद्राएं दृष्टिगत होती हैं। वे पाठशाला में प्रायः अनुपस्थित रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए पिता के फर्जी पत्र भी वे बनवा ले जाते थे। हालांकि उनकी यह ~~अनुपस्थिति~~xx अनुपस्थिति उनके शिक्षकों को मानसिक राहत पहुंचाती थी, क्योंकि उनकी उपस्थिति से उनके प्राण सांसत में पड़ जाते थे।

अन्वेषण और खोजबीन उनकी फितरत में था। इसकेलिए उन्होंने अपना शहर तथा उसके आसपास का समूचा परिवेश छान मारा था। इसी नूतनान्वेषक वृत्ति के कारण शहर और कस्बे के सारे कुश्तीबाजों, सपेरों, सरकस के कलाकारों, जादूगरों, पियक्कड़ों, संगीतज्ञों और सभी किस्म के बनजारों के साथ उनकी अंतरंगता हो जाती थी। 27

उनके मन में मृत्यु के प्रति असीम जिज्ञासा व आकर्षण था, यहां तक कि गांव में होने वाली प्रत्येक मौत के समय वे वहां उपस्थित रहते थे चाहे उस आदमी से उनका परिचय हो चाहे न हो। इस बात से उनके परि-वार वालों को कष्ट और लज्जा का अनुभव होता था। परंतु वे उसकी परवाह नहीं करते थे।

समाज के विचित्र किस्म के लोगों से उनका सहज आकर्षण था, जिसके कारण वे प्रायः मेलों में जाते थे और जैन, हिन्दू, मुसलमान सभी धर्मों के उत्सवों में भी शिरकत करते थे।

उन दिनों में ही उन्होंने नीडर और निर्भीक बच्चों का एक छोटा-सा दल बनाया था, जिसके द्वारा वे नाना प्रकार के प्रयोग करते रहते थे। अक्षरशः कहा जाये तो वे गहरे पानी " में पैठने का अभ्यास करते थे। बाढ़ के दिनों में उफनती-फूंकारती शकर नदी के ऊंचे पुल पर से वे अपने

साथियों के साथ छलांग लगाते थे । इस प्रयास में उनका एक साथी तो पानी में बहकर डूब भी गया था । पानी के में बनने वाले भंवरों के संबंध में प्रायः यह सुनने में आता है कि उसमें फंसने वाला व्यक्ति उबर नहीं सकता । इस संबंध में भी उन्होंने अनेक प्रयोग किये और यह अन्वेषित किया कि भंवर से लड़ने के बजाय यदि हम उसमें स्वयं को छोड़ दें तो नीचे गहराई में जाकर बड़ी सरलता से उसके वेग से हम बाहर आ सकते हैं । कितना बड़ा सत्य -- जीवन के लिए भी क्या जीवन के भंवरों से बचने का उपाय भी यही नहीं है क्या ? इस बात को उन्होंने अपने 22 दिसम्बर 1987 के एक व्याख्यान में भी उकेरा है, जिसमें उन्होंने सरलता को ही एक मात्र धार्मिकता कहा है ।[28] रात के गहन अंधकार में नदी की समीपवर्ती पर्वत-चट्टानों की संकरी कगारों को पार करने के रोंगटे खड़े कर देने वाले अनुभवों से भी यह बाल-दल दुपरद्द हुआ है ।

दिखावटी पवित्रता तथा पाखंड के प्रति घोर वितृष्णा का भाव उनमें प्रारंभ से ही था और वे पाखंडी का पर्दाफाश करने का एक भी मौका हाथ से जाने न देते थे । यह उन दिनों की बात है जब उनका एक शिक्षक सदैव अपने भाषणों में साहस और निर्भयता के गुणों का बखान करते रहते थे । ओशो-रजनीश उनकी इस हिपोक्रसी को खोलना चाहते थे । लिहाजा उन्होंने एक मुसलमान सपेरे से एक बड़ा-सा सांप हासिल किया । उसे थैले में बन्द किया और एक दिन जब वे शिक्षक महोदय अपने साहस और निर्भयता की डींगें हांक रहे थे तब वह सांप उन्होंने कक्षा में खुला छोड़ दिया । सांप को देखते ही शिक्षक महोदय के होशो-हवास उड़ गये और सबसे पहले भागकर मेज पर खड़े हो गये और मदद के लिए चिखने-चिल्लाने लगे । तब एक लड़के ने फिकरा कसा -- साहस का महान प्रदर्शन ।[29]

उनके एक और शिक्षक कुछ घमंडी और धार्मिक किस्म के थे । वे गंजे थे

और ओशो-रजनीश तथा उनके साथियों ने उनका नामकरण "मुंडे" के रूप में किया था । उनकी नैतिकता की परीक्षा के हेतु रजनीशजी बीस रूपये की रकम इकट्ठी करते हैं । उन दिनों यह रकम भी बहुत बड़ी हुआ करती थी । यह रकम उस मंडली ने छोटेलाल मुंडे के नाम से मनीआर्डर द्वारा भेज दी । डाकिये का संपर्क करके उन्होंने इस बात के लिए उसे राजी कर लिया था कि वह मनीआर्डर कक्षा में ही लाये । शिक्षक ने जब छोटेलाल मुंडा पढ़ा तो एक क्षण के लिए उनकी पुण्यात्मा क्रोध से थरथरा उठी , परंतु लोभ ने क्रोध पर तुरंत ही विजय प्राप्त कर ली और छोटेलालजी ने पूरी कक्षा के सामने "मुंडे" के नाम से हस्ताक्षर किए । यह असलियत की एक और विजय थी । पाखंड को बेपर्द करने का उनका एक और प्रयोग था ।

उनके एक और शिक्षक बड़े संकीर्ण बुद्धिवाले थे । वे स्वयं बहुत ऊंचा मानते थे और जात-पांत में भी विश्वास करते थे । रजनीश तथा उनके साथियों ने उनका नाम रखा था -- " भोलेनाथ " । "भोले" का एक अर्थ बुद्धू भी होता है और शीघ्र ही यह नाम पूरे गांव में लोकप्रिय हो गया । शिक्षक महोदय की पत्नी इस नाम से बहुत चिढ़ती थी । परंतु इसे भी परि-स्थिति का मजाक ही समझना चाहिए कि उनकी मौत पर उनकी वही पत्नी "हाय मेरे भोलेनाथ " कहकर दहाड़ें मारकर रो रही थी ।

<u>माता-पिता तथा पारिवारिक सदस्यों के प्रति विद्रोहात्मक रवैया :</u>

ओशो-रजनीश की वैचारिक स्वतंत्रता तथा एतदजन्य विद्रोहात्मक मुद्रा के दर्शन हमें बाल-रजनीश में भी होते हैं । एक अनिर्वचनीय विलक्षणता उस समय उनमें हमें उपलब्ध होती है जो संसार के कुछेक महान पुरुषों के शैशव में प्राप्त होती है । उनके माता-पिता के पास लोगों की शिकायतों का एक तांता लगा रहता था । इस परिप्रेक्ष्य में उनका जीवन कृष्ण के बाल-जीवन से तुलनीय हो सकता है । उनके पिता बाबूलाल खाटे बहुत पहले ही समझ गये थे कि इस विलक्षण बालक के जीवन में दखल न देना

ही बेहतर रहेगा । अपने उत्तर जीवनमें उन्होंने अपने ही पुत्र से संन्यास की दीक्षा भी ली थी और उनका नामाभिधान भी हुआ था ।

नाना की मृत्यु के उपरांत उनके पिता ने रजनीश को दुन्यवी तौर पर सुधारने की दो-एक बार चेष्टा की भी जिनमें वे विफल रहे । बालक रजनीश के केश बहुत लम्बे , बेतरतीब और घुंघराले थे । उन्होंने अपने नाना-नानी को अपने बाल कभी कटवाने नहीं दिये और यह सिलसिला बाद में भी जारी रहा । इसके उपरांत वे एक अजीब किस्म की पंजाबी पोशाक पहनते थे । उन दिनों वहां एक गायक-मंडली आई हुई थी । इस पोशाक की नकल उन्होंने उस मंडली से की थी , जो उन्हें बेहद पसंद आई थी । जो चित्र मन को भा जाये उसे करने में वे कभी झिझकते नहीं थे तथा उस विषय में किसीके सामने घुटने टेकना यह भी उनकी फितरत में नहीं था । अपने लम्बे बाल तथा विचित्र पोशाक के कारण वे कुछ-कुछ लड़कीनुमा लगते थे , जो उनके परिवार के सदस्यों को नागवार था । कई बार तो जब वे घर में प्रवेश कर रहे होते तो कोई-कोई ग्राहक पिताजी से पूछ बैठता था -- " यह किसकी लड़की है ? " तब उनके पिताजी को बहुत ही संकोच होता था और इसके कारण अपने ग्राहकों के बीच वे खुद को शर्मसार महसूस करते थे । फलतः एक दिन उनके पिताजी ने हठात् बाल कटवा दिये , परन्तु रजनीश कहां हार मानने वाले थे । तत्काल उसकी विचित्र प्रतिक्रिया लोगों के सामने आयी ।

रजनीशजी की एक अफीमची नाई से भी दोस्ती थी । उससे मिलकर ~~उन्होंने~~ उन्होंने अपने सिर का टकामुण्डा करवा दिया । अफीमची नापिताचार्यजी ने भी यह कार्य अनमनेपन से किया , क्योंकि हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में प्रायः लड़के के सिर के बाल उसके पिता के देहान्त पर ही निकाले जाते थे ।

अपना यह मुंडा हुआ सिर लेकर बालक रजनीश पूरे गांव में शान से घूमते

रहे और पिताजी की शरमिंदगी का आनंद लेते रहे , क्योंकि दुकान में पूछताछ करने वाले तथा [illegible] सांत्वना देने वाले लोगों का तांता-सा बन गया । उनके परिवार वालों ने जब उनके पंजाबी कपड़े छिपा दिये ताकि वे पारंपरिक ढंग के कपड़े पहनने को विवश किए जाये । तब वे सीधे घर से बाहर निकलकर दिगम्बर अवस्था में ही दुकान के सामने खड़े हो गये । परिवार वाले उनसे हार गये और उनके कपड़े तुरंत लौटा दिये गये । [30]

झूठ और दंभ के प्रति वितृष्णा का भाव उनमें शुरू से ही मिलता है । दंभ का पर्दाफाश करने में वे किसीको नहीं बख्शते थे चाहे कोई अक्खेशां ही क्यों न हो , परंपराविश्रुत महान व्यक्ति ही क्यों न हो । एक उदाहरण उनके उत्तरकालीन जीवन से यहां उद्धृत करना आवश्यक है , जो ओशो के "पीवत रामरस लगी खुमारी" में ग्रंथस्थ है --

"प्यारे ओशो , कोई हजार वर्ष पूर्व आद्यशंकराचार्य ने कुछ प्रश्नों के उत्तर देते हुए कहा था कि सब लोगों के लिए जानना असंभव ऐसा स्त्री का मन है और चरित्र है --' ज्ञातुं न शक्यं च किमस्तिसर्वैर्योषिन्मनोश्चरित्रं तदीयम् ' -- तब उसके उत्तर में ओशो रजनीश ने कहा था --' शंकराचार्यजी ने प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया , अपनी मनोदशा जरूर जाहिर की है । प्रश्न तो था सब लोगों के लिए क्या जानना असंभव है ? और उत्तर ? उत्तर दो कौड़ी का है । स्त्री का मन और उसका चरित्र । जैसे शंकराचार्य इसीको जानने में लगे रहे हों । स्त्री का मन और उसका चरित्र -- क्या खाक करोगे जानकर । जानने को कुछ और नहीं ? क्यों स्त्री के पीछे पड़े हो ? क्या अड़चन है ? " [31]

तात्पर्य यह कि ओशो रजनीश अपनी बात किसीकी भी शेह-शरम रखे बिना निर्भीकता से कहते हैं । इस दृष्टि से देखा जाय तो यह निर्भीकता

रजनीशजी के चरित्र की एक अहम इयत्ता है । इसका एक उदाहरण हमें उनके बाल्य-जीवन में प्राप्त होता है , जहाँ दंभ की कलई खोलने में वे अपने परिवार वालों के प्रति भी उतने ही निर्मम और निरपेक्ष दिखते हैं । एक बार इनके घर एक आदमी आया , जिससे उनके पिताजी मिलना नहीं चाहते थे । उन्होंने बालक रजनीश को कहा कि उसे जाकर कह दो कि वे घर में नहीं हैं । बालक रजनीश ने दरवाजा खोलकर उस व्यक्ति से कहा — " मेरे पिताजी ने आपसे यह कहने को कहा है कि वे घर में नहीं है । " [32]

धार्मिकता के नाम पर होने वाले बाह्य कर्मकांड , विधि-विधान तथा आडम्बरों के प्रति उनके मन में प्रारंभ से ही विलोम-भाव दृष्टिगत होता है ; जिसका एक उदाहरण हमें उनके शैशवकालीन जीवन में ही उपलब्ध होता है । एक बार इनके परिवार वाले इन्हें हठात् जैन-मंदिर ले गये । इस पर वे चुपके से खिसक गये और महावीर की प्रतिमा पर कुछ मिठाई रख आये । बाद में जब वे सपरिवार वहाँ पहुँचे तो देखा कि एक चूहा महावीर के सिर पर बैठा मिठाई खा रहा था और उस चूहे ने महावीर के चेहरे पर पिशाब भी कर दिया था । इसे दिखाते हुए वे तत्काल पूछ बैठे — " यह कैसा भगवान है जो कि चूहे से भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता ? " [33]

इस प्रसंग के बाद उनके परिवार वालों ने उनके इस प्रकार के कार्यों की आशा छोड़ दी और उन्हें अपने हाल पर जीने के लिए उन्मुक्त छोड़ दिया ।

इसका अर्थ यह कतई नहीं कि ओशो रजनीश धार्मिकता में नहीं मानते थे । वस्तुतः वे छद्म-धार्मिकता (Pseudo-Religionalism) में विश्वास नहीं करते थे , बल्कि आगे बढ़ते हुए वे धर्म नहीं , अपितु धार्मिकता की बात करते हैं ।

"पिवत राम रस लगी खुमारी" नामक उनके प्रवचन-माला ग्रंथ में उन्होंने इसे रेखांकित करते हुए कहा है — " धर्म सिद्धान्त नहीं है । धर्म फिर क्या है ? धर्म ध्यान है , बोध है , बुद्धत्व है । इसलिए मैं धार्मिकता की बात करता हूं । चूंकि धर्म को सिद्धान्त समझा गया है , इसलिए ईसाई पैदा हो गये , हिन्दु पैदा हो गये , मुसलमान पैदा हो गये । अगर धर्म की जगह धार्मिकता की बात फैले तो फिर ये भेद अपने आप गिर जायेंगे । धार्मिकता कहीं हिन्दू होती है , कि मुसलमान होती है कि ईसाई होती है ? धार्मिकता तो बस धार्मिकता होती है । स्वास्थ्य हिन्दू होता है , कि मुसलमान कि ईसाई ? प्रेम जैन होता है , बौद्ध होता है कि शीख ? जीवन - अस्तित्व , इन संकीर्ण धाराओं में नहीं बंधता । जीवन सभी संकीर्णधाराओं का अतिक्रमण करता है । इनके पार जाता है । " [34]

वस्तुतः छद्म-धार्मिकता में फंसे हमारे ढोंगी समाज में धार्मिकता की सही पहचान ही तिरोहित हो गई है , मसलन् अधार्मिक और अमानवीय घटनाओं को हमारे यहां कई बार धार्मिकता के रूप में प्रस्तुत करते हुए उन निंदनीय घटनाओं की प्रशस्ति करने के समाज-विरोधी एवं प्रगति-विरोधी कार्य होते रहे हैं । अभी हाल ही में जैन संप्रदाय में राजकोट शहर के अन्तर्गत एक महासतीश्री ने जैन परंपरा के संथारावाद की पुनरुक्ति की । उसमें उन्होंने 58 दिन के उपवास कर देह का त्याग किया । महासतीजी तो फिर भी वृद्धा थीं । परंतु दो साल पूर्व राजस्थान के देवराला गांव में रूपकुंवर बा ने सतीप्रथा को पुनर्जीवित किया था । उसे भी एक जाति-विशेष के लोगों ने प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाते हुए महिमा-मंडित किया था । अन्य प्रचार-माध्यमों ने भी उसका यशोगान किया था । पिछले दिनों भारत की प्रसिद्ध नृत्यांगना संयुक्ता पाणिग्रही ने पुनः देवदासी बनने की इच्छा प्रकट की ।

इसमें संयुक्ताजी तो मजे से देवदासी बन सकती हैं, क्योंकि वह प्रतिष्ठा एवं सफलता के शिखरों पर विराजित हैं। उनके साथ कोई अभद्र या अवांछित घटना नहीं हो सकती। परंतु दूसरी गरीब बहनों के साथ पहले जो हुआ है, उसे देखते हुए संयुक्ताजी की इस नारी-विरोधी मुहिम का विरोध करना चाहिए।

ऊपर की तीनों घटनाओं का सामाजिक दृष्टि से विरोध होना चाहिए, तथा उसे अमानवीय करार देना चाहिए। बजाय इसके उनको धार्मिकता का जामा पहनाया गया। अभिप्राय यह कि ओशो-रजनीश इस छद्म धार्मिकता का विरोध करते हुए एक स्वस्थ चिंतन-प्रणाली के पक्षधर बनते हैं।

इस छद्म-धार्मिकता की बात को स्पष्ट करने हेतु एक और उदाहरण द्रष्टव्य है। स्वामी सच्चिदानंद ने अपने कुछ साथियों के साथ अभी हिमालय के कुछ धार्मिक एवं दर्शनीय स्थानों की यात्रा की थी और उसका वृतान्त भी पत्र-पत्रिकाओं में आया था। उन्होंने हिमाचल प्रदेश के हियाकाटी नामक स्थल का हवाला देते हुए एक प्रसंग दिया था। अष्टभुजा देवी के मंदिर में एक ग्यारहवीं कक्षा में पढ़नेवाले किशोरने जिस प्रामाणिकता का परिचय दिया था उसका भी उल्लेख था और उस मंदिर के पंडे-पुरोहितों ने जिस प्रकार की अप्रामाणिकता बताई उसका भी उल्लेख किया था। उस किशोर ने कोई धार्मिक ग्रंथ या वेद-वेदांग नहीं पढ़ा था। दूसरी तरफ पंडे-पुरोहित शास्त्रज्ञ थे, परंतु किशोर का व्यवहार जहां धार्मिकता पूर्ण था, वहां उन पंडे-पुरोहितों का व्यवहार सच्ची धार्मिकता से कोसों दूर था। किशोर ने हजारों रूपयोंवाली बैग को वापिस किया था, जबकि पंडे-पुरोहित दान-दक्षिणा के लिए न केवल अंदर-अंदर लड़ ही रहे थे, अपितु अपनी छोटी तिन कोड़ी नीयत का भी भोंड़ा प्रदर्शन कर रहे थे। [35]

विश्वविद्यालय के वर्ष : [सन् 1952-1966] :

युवा होते-होते ओशो-रजनीश राजनीति, धर्म, दर्शन इत्यादि विषयों में अत्यधिक रस लेने लगे तथा मित्रों के बीच एतद्विषयक चर्चा में घण्टों व्यतीत करने लगे थे । विश्वविद्यालय में अपनी वाक्-पटुता तथा तर्कशक्ति के लिए वे प्रसिद्ध थे । वे अखिल भारतीय वाद-विवाद सर्वजेता भी रहे हैं । उनकी विशेषता या असाधारणता यह थी कि वे प्रत्येक बात पर सवाल उठाते थे । गांव के पुस्तकालय की सभी पुस्तकें उन्होंने पढ़ डाली थी । इस कालावधि के युवा रजनीश का वर्णन करने वालों में प्रो. वालहिलास ने अपने ग्रंथ " द वे आफ द हार्ट " में उन्हें "प्रतिभाशाली", "आत्मवान", "स्वतंत्र बुद्धि का व्यक्ति" प्रभृति विशेषणों से नवाजा है ।[36] एक अन्य विद्वान रोनाल्ड कोनवे ने उन्हें "असाधारण रूप से बुद्धिमान तथा करिश्मापूर्ण लड़का कहा है ।[37]

परंतु इस धधकते हुए शोले को जिन्हें झेलना पड़ा है, उनकी दृष्टि में तो वे " अविनीत, निर्लज्ज, अशिष्ट, किसीका आदर न करने वाले और राजद्रोही थे । " वर्ष के अंत में प्रधानाध्यापक द्वारा की जानेवाली टिप्पणी में उनकी भरपूर निंदा की जाती थी, जिसे देखते हुए उन्होंने एक बार अपने आचार्यश्री से कहा था — " यह चरित्र-प्रमाणपत्र नहीं है, यह तो चरित्र-हनन है । "[38]

जो भी हो स्कूल में अनगिनत उपस्थितियां तथा विद्रोही प्रवृत्तियों के बावजूद वे माध्यमिक विद्यालय से उत्तीर्ण होकर बाहर निकले और जबलपुर के एक महाविद्यालय [कालेज] में गए । वस्तुतः वे दो महाविद्यालयों में गए क्योंकि पहले महाविद्यालय के तर्कशास्त्र के प्राध्यापकश्री ने उनकी तर्कपूर्ण लम्बी बहसों से तंग आकर उपकुलपति महोदय से शिकायत कर दी कि इनके रहते उनके लिए

अध्यापन कार्य मुश्किल है । अतः उन्होंने अल्टिमेटम-सा दे दिया कि या तो रजनीश बाहर या मैं बाहर । अतः उपकुलपतिश्री ने रजनीशजी को एक अन्य कालिज में प्रवेश दिलवाया , परंतु वहां के प्राचार्य ने यह शर्त लगाई कि वे दर्शनशास्त्र की कक्षा में नहीं आया करेंगे । उनकी उपस्थिति वैसे ही लग जायेगी । उनके इस प्रस्ताव से रजनीशजी को बड़ी प्रसन्नता हुई । उन दिनों के संस्मरणों को याद करते हुए स्वयं ओशो-रजनीश ने कहा है —

" पहले महाविद्यालय में मैंने प्रवेश लिया । मैं तर्कशास्त्र पढ़ना चाहता था और बूढ़ा प्रोफेसर जिसके पास तमाम मानद उपाधियां थीं , जिसके नाम से तमाम पुस्तकें थीं , पाश्चात्य तर्कशास्त्र के जनक अरस्तू के संबंध में बोलने लगा । मैंने कहा , एक मिनट रुकें । क्या आप जानते हैं कि अरस्तू अपनी किताब में लिखता है कि स्त्रियों के पास पुरुष की अपेक्षा कम दांत होते हैं ? ... वे बोले —" हे ईश्वर । यह किस प्रकार का प्रश्न है ? इसका तर्कशास्त्र से क्या लेना-देना है ?"... मैंने कहा — " इसका तर्कशास्त्र की पूरी प्रक्रिया से कुछ मूलभूत लेना-देना है । क्या आपको पता है कि अरस्तू के दो पत्नियां थीं ?" उन्होंने कहा —" मैं नहीं जानता, यह तथ्य तुम्हें मिल कहां से रहे हैं ?" ... लेकिन ग्रीस में शताब्दियों से यह पारंपरिक रूप से जाना जाता रहा है कि स्त्रियों के पास हर चीज़ पुरुषों से कम होती है । स्वभावतः उनके दांतों की संख्या वह नहीं हो सकती जो पुरुषों की थी । .... मैंने कहा , " और तुम इस आदमी को तर्कशास्त्र का जनक कहते हो ? कम से कम वह गिन सकता था , और उसकी दो पत्नियां उपलब्ध थीं । लेकिन उसने गिना नहीं । उसका वक्तव्य अतर्कपूर्ण है । उसने इसे बस परंपरा से ग्रहण कर लिया है । और मैं ऐसे आदमी में आस्था नहीं रख सकता कि जिसकी दो पत्नियां हैं और जो लिखता है कि पुरुषों के बजाय स्त्रियों को कम दांत होते हैं । यह अंधपुरुष

व्यक्ति का रुख है । एक तर्कशास्त्री को सारे पूर्वाग्रहों से पर होना चाहिए ।" . 39

रजनीशजी की उपर्युक्त प्रवृत्तियों के कारण उन्हें वर्ग में अनुपस्थित रहने की अनुमति मिल गई । पुस्तकालय में बैठकर स्वाध्याय द्वारा अपने आप पढ़ना उनकी रुचि के अधिक अनुकूल था । पुस्तकाध्ययन की उनकी क्षुधा कभी परितृप्त न होती थी । यहां उन्होंने यह भी देखा कि अधिकांश प्राध्यापकों का पुस्तकों या पुस्तकालयों से दूरदराज का भी रिश्ता नहीं होता था । उनके एक प्राध्यापक यह कभी स्वीकार नहीं करते थे कि वे कोई बात नहीं जानते । एक बार रजनीशजी ने "प्रिन्सिपियालोजिका" नामक एक छद्म-पुस्तक को लेकर उस प्राध्यापक महोदय को "बौद्धिक छटके " में फंसाया । उक्त पुस्तक का नाम लेते हुए उन्होंने भरी कक्षा में उन प्राध्यापक महोदय को पूछा कि क्या उन्होंने उस पुस्तक को पढ़ी है ? जब प्राध्यापक महोदय ने इस प्रश्न का उत्तर हकार में दिया तो उन्होंने उनकी पोल उपकुलपति महोदय के सामने खोल दी ।40

इस बात को लेकर एक अन्य प्रसंग में उन्होंने उपकुलपति महोदय से कहा था —" वैसे भी आपके सारे प्रोफेसर्स तिथि-बाह्य {आउट-डेटेड } हैं । लेकिन क्या मैं लायब्रेरी में जा सकता हूं ? ... वे बोले लायब्रेरी बिलकुल ठीक है , लेकिन किसी कक्षा में कभी उप-स्थित मत होना , क्योंकि मैं किसी भी प्रोफेसर से यह नहीं सुनना चाहता कि तुम मुसीबत खड़ी कर रहे हो । .... लेकिन मैंने कभी कोई मुसीबत खड़ी नहीं की है । मैं तो बस सवाल पूछ रहा था , जिनके बारे में यदि वे सचमुच भद्रजन होते तो कहते , "मैं पता करूंगा , फिलहाल मैं नहीं जानता । " लेकिन यह मैं "मैं नहीं जानता " कहना संसार में सर्वाधिक कठिन बात है । 41

इस संदर्भ में भी एक वाकया उन्होंने बताया है । जब वे जबलपुर की

युनिवर्सिटी के एक कालेज में पढ़ते थे तब वहाँ के उपकुलपति एक लब्ध-प्रतिष्ठित एवं सम्मान्य विद्वान थे । वे इतिहास के विद्वान थे और आक्सफर्ड युनिवर्सिटी में इतिहास विभाग के अध्यक्ष रह चुके थे । वहाँ से सेवामुक्त होने पर इन्हें× उन्हें उपकुलपतिपद के लिए चुन लिया गया था । उन दिनों महात्मा गौतमबुद्ध पर एक व्याख्यानमाला चल रही थी । उसके अन्तर्गत उपकुलपति महोदय ने अपना व्याख्यान देते हुए कहा -- " मैं हमेशा अपने भीतर एक खेद महसूस करता हूं कि मेरा जन्म गौतम बुद्ध के समय न हुआ , अन्यथा मैं उनके पास गया होता और उनके चरणों में बैठा होता । " 42

इस पर रजनीशजी खड़े होकर कहने लगे -- " इस बात पर आपको फिर से विचार करना होगा । " इस पर उन्होंने कहा -- " क्या मतलब है तुम्हारा ? " तब रजनीशजी ने कहा -- " आपके अपने समय में जे. कृष्णमूर्ति , श्री अरविंद , रमण महर्षि हुए हैं । क्या मैं पूछ सकता हूं कि आपने जाकर इन लोगों से कुछ सीखा ? फिर किस अधिकार से आप कह रहे हैं कि आप खेद महसूस कर रहे हैं कि आप बुद्ध के समय में न पैदा हुए ? मैं नितान्त गैरण्टी के साथ कहता हूं कि आप गौतम बुद्ध के पास भी न गये होते । " 43

इस पर सभागृह में सन्नाटा छा गया । लेकिन उपकुलपति महोदय निश्चय ही एक प्रामाणिक एवं भद्रजन थे । उन्होंने तत्काल कहा -- "मैं तुम्हारी बात को समझता हूं और मैं अपने शब्द वापस लेता हूं । मुझे श्री अरविंद का पता है लेकिन मैं उनके पास कभी नहीं गया । मुझे रमण महर्षि का पता है , लेकिन मैं उनके पास भी नहीं गया हूं । मुझे जे. कृष्णमूर्ति का भी पता है , लेकिन मैं उनके पास भी नहीं गया । तुम सही हो । तुम मुझे बाद में मिलो । " 44

बाद में वे उनसे मिलने गये , तब साक्षात्कार करने पर उन्होंने स्वीकार करते हुए कहा कि यह बिलकुल ठीक था कि तुमने मेरा

आमना-सामना किया , लेकिन यह बात तुम किसी अन्य प्रोफेसर के साथ मत करना , क्योंकि लोग अपना अज्ञान स्वीकार करने के लिए पर्याप्त साहसी नहीं है । उनके पास ' मैं नहीं जानता ' कहने का साहस नहीं है । जहां तक मेरा संबंध है , मैं तुम्हारे प्रति अतिशय कृतज्ञ हूं , क्योंकि यह मेरे भीतर के अचेतन की धारा रही होगी । मैं झूठ नहीं बोल रहा था , मैं बस महसूस कर रहा था कि जब गौतम बुद्ध जीवित थे मैं उनके आशिष में , उनकी उपस्थिति में नहा उठने के लिए उनके पास गया होता । लेकिन तुमने मेरी भूल सुधार दी । मैं नहीं गया होता । " 45

अपने महाविद्यालय के दिनों में उन्होंने ऐसे किसी शिक्षक को नहीं बख्शा था , जिसके व्यवहार में किसी-न-किसी प्रकार की छद्मिमलता (हिपोक्रेसी) थी । अपनी रूढ़ि-विरोधी विचार-प्रणाली के कारण रूढ़िवादी लोगों को वे निरंतर चौंकाते रहे । कक्षाओं में अनुपस्थिति, तथा प्राध्यापकों की नाराजगी के बावजूद सन् 1957 में उन्होंने दर्शनशास्त्र में एम.ए. उपाधि प्रथम श्रेणी में प्रथम रहकर अर्जित की और स्वर्णपदक भी प्राप्त किया ।

इन्हीं दिनों में इक्कीस वर्ष की आयु में उनको आत्मज्ञान उपलब्ध हुआ । यह विस्फोट 21 मार्च 1953 को हुआ था । पहले इस प्रकार की घटना महात्मा बुद्ध के साथ घटित हो चुकी थी । बिलकुल वैसे ही निःसंग भाव से वे एक मौलश्री के वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे । तब यह चमत्कार हुआ । यह वृक्ष जबलपुर के सार्वजनिक उद्यान में आज भी खड़ा है । इसके संबंध में स्वयं ओशो रजनीश ने बाद में लिखा है — " भावनाओं व मनोवेगों से रहित चैतन्य का अनुभव ही आत्मज्ञान है । जब चैतन्य बिलकुल शून्य हो तो एक विस्फोट-सा होता है , जो ठीक आणविक विस्फोट जैसा ही है । ... तुम्हारा पूरा अन्तस् एक ऐसे प्रकाश से आपूरित हो जाता है , जिसका न कोई स्रोत है , न कोई कारण है , न अतीत है । और एक बार

यह घटा तो वह तुम्हारे साथ ही रहता है । वह क्षण भर को भी तुम्हारा साथ नहीं छोड़ता । तुम्हारी नींद में भी वह प्रकाश तुम्हारे भीतर बना रहता है , और उस क्षण के बाद तुम्हारा देखने का पूरा परिप्रेक्ष्य बदल जाता है । " [46]

अन्यत्र इस संदर्भ में कहा गया है — " उस रात , और उस रात के बाद से मैं शरीर में नहीं हूं । उस विस्फोट में पुराना व्यक्ति मर गया । यह नया व्यक्ति बिलकुल नया है । जो व्यक्ति यात्रा कर रहा था वह मर चुका । अब जो है , वह बिलकुल नया है । उस विस्फोट के बाद कोई कहानी नहीं है , उसके बाद कोई घटनाएं नहीं हुईं । सब घटनाएं विस्फोट से पहले की ही हैं । विस्फोट के बाद बस शून्य बचा है । पहले जो था वह न तो मैं हूं , न मेरा है । " [47]

इस विस्फोट के पूर्व की स्थिति का वर्णन भी ओशो ने किया है — "और अंतिम दिन एक बिलकुल नई ऊर्जा , नए प्रकाश , और एक नए आह्लाद की उपस्थिति इतनी सघन हो गई कि लगभग असह्य थी । ऐसा लगा जैसा कि मैं विस्फोटित हो रहा हूं , जैसे कि मैं आनंद से पागल हुआ जा रहा हूं । पूरा अतीत मिट रहा था । जैसे कि वह मेरा कभी था ही नहीं , जैसे कि मैंने उसके बारे में कहीं पढ़ा हो , जैसे कि मैंने उसका सपना देखा हो , जैसे कि वह किसी और की कहानी हो । सीमाएं टूट रही थीं , भेद मिट रहे थे । मन मिट रहा था ; मन मुझसे लाखों मील दूर था , उसको पकड़ पाना कठिन था । वह दूर भागता जा रहा था और उसको पकड़ने की कोई आकांक्षा न थी । शाम होते-होते उसे सहना बहुत मुश्किल हो गया । पीड़ा हो रही थी । ऐसे , जैसे कि बच्चे को जन्म देने से पहले स्त्री को अथक पीड़ा से गुजरना पड़ता है । कुछ होनेवाला था । क्या होने को है , यह जानना कठिन हैxxx था । " [48]

अध्यापन -कार्य :

एम.ए. करने के उपरांत सन् 1958 में छब्बीस वर्ष की आयु में रायपुर

के कालेज में दर्शनशास्त्र के व्याख्याता के रूप में उनकी नियुक्ति हुई । इसके कुछ वर्ष बाद उनकी नियुक्ति जबलपुर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में हुई । उनके इन दिनों की चर्चा के संबंध में 'रोनाल्ड कोनवे' ने अपनी टिप्पणी देते हुए उन्हें प्रतिभाशाली किन्तु अपरंपरागत प्राध्यापक करार दिया ।[49]

अध्ययनकाल की भांति उनका अध्यापन काल भी निरंतर विवादों का केन्द्र बना रहा । अपने विद्यार्थियों को परंपरागत शैली के अनुसार एक सुनिश्चित पाठ्यक्रम पढ़ाने की अपेक्षा वे उसका एक सम्पूर्ण चित्र ही खड़ा कर देते थे । और वास्तव में विश्वविद्यालयों में अध्यापन का यही क्रम होना भी चाहिए । विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों को चाहिए कि वे अपने छात्रों का केवल दिशा-निर्देश करें और ज्ञान के क्षितिजों का उद्घाटन उनके ही द्वारा होने दें, परंतु लकीर के फकीर बननेवाले परंपरागत लोगों को यह कैसे स्वीकार्य हो सकता है ?

इस संबंध में स्वयं आशो ने लिखा है -- " मैं विद्यार्थियों को यह पढ़ा रहा था जो विश्वविद्यालय ने नियत किया था, लेकिन उन्हें यह भी दिखा रहा था कि उस नियत पाठ्यक्रम में कितना बकवास था । मैं उन्हें अरस्तू पढ़ा रहा था, और साथ में यह भी पढ़ा रहा था कि अरस्तू सही नहीं है । मेरा घंटा दो हिस्सों में बंटा हुआ होता -- पहले मैं उन्हें पढ़ाता कि अरस्तू का मतलब क्या है, और दूसरे हिस्से में मैं उन्हें बताता कि वह किस प्रकार गलत है । तो मेरे खिलाफ शिकायतें हुईं, क्योंकि यह पढ़ाने का एक अजीब ढंग था और विद्यार्थी उलझन में पड़ रहे थे । " [50]

बावजूद इसके वे एक अत्यन्त लोकप्रिय (छात्रप्रिय) प्राध्यापक सिद्ध हुए । उनकी कक्षाएं ठसाठस भरी रहती थीं, न केवल उनके विद्यार्थियों से, प्रत्युत विश्वविद्यालय की नाना शाखाओं और विषयों

के प्राध्यापकों से भी , क्योंकि अधिकाधिक रूप से दर्शनशास्त्र में केवल पांच विद्यार्थी थे ।

इन्हीं दिनों में उन्होंने भारत में अनेक स्थानों का भ्रमण भी किया और वे जहां भी जाते विवादों और विचारों का बवण्डर अपने साथ ले जाते । उनकी इन दिनों की जीवन-चर्या को देखते हुए सर्वश्री भगवतीचरण वर्मा की निम्नलिखित काव्य-पंक्तियां स्मृति में उभर जाती हैं —

" हम दिवानों की क्या हस्ती आज यहां कल वहां चले ।
मस्ती का आलम साथ चला हम धूल उड़ाते जहां चले । " 51

रोनाल्ड कोनवे ने उनके इन दिनों की जीवन-चर्या के विषय में लिखा है — " उनके सामने एक ही लक्ष्य था । नींद में चल रहे बुद्धिवादी भौतिकवाद से संवेदनशील लोगों को जगा लेना । " 52

अंत में सन् 1966 में उन्होंने दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक पद से भी त्याग-पत्र दे दिया , ताकि अपना पूरा समय यात्राओं और प्रवचनों को दे सकें , जो जन-जागरण तथा बौद्धिक-क्रांति के लिए अपरिहार्य था । इस संबंध में अपनी टिप्पणी देते हुए उन्होंने कहा था — " विश्व-विद्यालय में रहकर सिर्फ बीस विद्यार्थियों को पढ़ाना मुझे समय का मूर्खतापूर्ण अपव्यय लगा , जबकि मैं एक ही सभा में एक साथ 50 हजार लोगों को पढ़ा सकता था । विश्वविद्यालय से मैं विश्व में चला गया । " 53

जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है ओशो ने सन् 1966 में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक पद से त्यागपत्र दे दिया और वे आधुनिक मनुष्य को ध्यान की कला सिखाने के महत कार्य में जुट गये । पूरा सातवां दशक वे भारत का भ्रमण करते रहे और भारत के कोने-कोने में "आचार्य रजनीश " का नाम एक आंधी की तरह फैल गया ।

अपने इस भारत-भ्रमण के दौर में वे जहां भी गए व्यवस्था और निहित स्वार्थों में लिप्त पाखंडी लोगों के कोपभाजन बनते रहे । उनका सारा प्रयत्न मनुष्य को उनके सर्वोच्च मानवीय अधिकार दिलाने की ओर अग्रसर था । यह बात न्यस्त स्वार्थों से घिरे लोगों के खिलाफ़ पड़ती थी । उन्होंने अपनी इस प्रवृत्ति के संबंध में कहा है -- " मैं मनुष्य जाति के समूचे अतीत के खिलाफ़ अपना हाथ उठाता हूं , यह सभ्य नहीं रहा है , यह मानवीय नहीं रहा है । यह किसी भी ढंग से लोगों के खिलने में सहयोगी नहीं रहा है , यह एक वसंत ऋतु नहीं रहा है । यह एक घोर विपत्ति रहा है । एक इतने विस्तृत पैमाने पर किया गया अपराध ..... । लेकिन किसीको उसके खिलाफ़ खड़ा होना ही होगा और किसीको यह बात कहनी ही होगी । हम समूचे अतीत का परित्याग करते हैं और हम अपनी ही अंतरात्मा के अनुसार जीना शुरू करेंगे और अपना ही भविष्य निर्मित करेंगे । हम अतीत को हमारा भविष्य निर्मित करने नहीं देंगे । " [54]

आचार्य रजनीश के ऐसे विचारों से रूढ़िवादी समाज का चौंक उठना सहज ही कहा जायेगा , लेकिन बावजूद इसके उन्होंने हजारों-हजारों श्रोताओं को संबोधित किया और लाखों-लाखों लोगों के हृदय को छुआ ।

बम्बई के वर्ष : 1968-1974 :

सन् 1968 से 1969 तक वे जबलपुर से ही देशाटन करते रहे , परंतु फिर उन्हें लगा कि बम्बई इसके लिए सर्वथा उपयुक्त स्थान है । अतः 1969 से वे स्थायी रूप से बम्बई में रहने लगे । यहां से वे नियमतः विभिन्न स्थानों पर साधना-शिविर लगाते रहे । उनके ये ध्यान-शिविर , विशेषतः प्रारंभ के दिनों में पर्वतीय स्थलों पर लगते रहे , जिनमें राजस्थान स्थित माउंट-आबू की ध्यान-शिविर बहुत ही

चर्चित एवं विवादास्पद रही ।

बम्बई से वे धर्म-सभाओं में बोलने लगे । एक उत्तेजक और मनोरंजक वक्ता होने के कारण शुरू-शुरू में उन्हें बहुत- से प्रतिष्ठित सम्मेलनों में आमंत्रित किया गया । एक बात यहां ध्यातव्य होगी कि आचार्य रजनीश के श्रोतावर्ग का वर्तुल अनवरत बदलता या परिवर्तित होता रहा है । प्रारंभ में कुछ जैनी भी आकर्षित हुए , परंतु उनकी सतत और नित्य परिवर्तित चिंतन-ऊर्जा को सहजने की या पचाने की अपनी अक्षमता के कारण वे छिटकते गये । इसी तरह गांधीवादी , प्रगतिवादी , चिंतक , साहित्यिक सभी उनसे जुड़ते और कतराते गये ।

अपनी धर्म-सभाओं में विवाद की आंधी जगाने में उन्हें आनंद आता था , क्योंकि इसके द्वारा वे श्रोताओं में स्वतंत्र रूप से सोचने का एक नया अभिगम सम्प्रेषित करना चाहते थे । इस उपक्रम में वे अपने सम-कालीन विचारकों और विचारधाराओं से भी टकराते गये , क्योंकि वे नितान्त गैर-समझौतावादी चिंतक थे । अतः शनैः शनैः वे स्थापित व्यवस्था के दुश्मन माने जाने लगे ।

गांधीजी की कई बातों से सहमत होते हुए भी उन्होंने गांधी के प्रगति और टेक्नोलोजी विरोधी विचारों को चुनौती दी और कहा — " गांधी जो दरिद्रनारायण का गुणगान करते रहे उसके कारण गरीब कभी गरीबी से मुक्त न हो सके । " 55

यह तो एक निर्विवादित तथ्य है कि अपने समकालीन चिंतकों , समाज-सेवियों , शिक्षाविदों प्रभृति से ओशो अनेकानेक बातों में असहमति प्रकट करते रहे हैं ; इतना ही नहीं बल्कि विश्व के खेरख्वाओं की तनिक भी परवाह किए बिना , उन्होंने कई विश्व-विख्यात विभूतियों की कटु आलोचना करने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट

नहीं बताई है और उनकी निर्भीक आलोचना की है । मधर टेरेसा भी उनमें से एक हैं । ओशो का कहना है कि कैथोलिक ईसाइयत को ज्यादा अनुयायी मिले इस उद्देश्य से मदर टेरेसा बहुत ही चातुर्यपूर्ण ढंग से अनाथ बच्चों की समस्या का ईसाइयत के हित में उपयोग कर रही हैं । संतति-निरोध के खिलाफ़ उनका जो रवैया है , उससे इतना तो निश्चित रूप से स्पष्ट होता है कि उनका लक्ष्य भारत की दरिद्रता को हटाने का न होकर , अधिक से अधिक हिन्दू बच्चे पैदा करवाने का है , ताकि भारत की गरीबी में निरंतर इजाफ़ा होता रहे और उनको अधिक से अधिक हिन्दू अनाथ बच्चे मिलते रहें , जिनको कैथोलिक बनाकर वे विश्व में नाम कमा सकें ।

ओशो ♦ असंदिग्ध रूप से यह मानते थे कि भारत की दरिद्रता का उन्मूलन पूर्ण संतति-निरोध और शिक्षा के द्वारा ही ♦ संभव है । आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी भौतिक समृद्धि का होना अत्यंत जरूरी है , यह तो हम भारत के स्वर्णकाल के इतिहास से भी जान सकते हैं । गौतम बुद्ध ने भी इसे स्वीकार किया था । गरीब आदमी भोजन-वस्त्र इत्यादि की प्राथमिक जरूरतों में ही इतना उलझा हुआ-सा रहता है कि वह अध्यात्म , कला , साहित्य , विज्ञान आदि के विषय में सोच भी नहीं सकता । वस्तुतः हमारे यहां मध्यकाल में दरिद्रता को एक अभिशाप के रूप में देखने के स्थान पर , उसका अनावश्यक इतना गुणगान हुआ (ग्लोरीफिकेशन आफ पावर्टी) कि हमारी चेतना ही कुंठित होती चली गई ।

हमारे देश में धर्म और अध्यात्म के नाम पर गरीबी और तथाकथित त्याग का अव्यभिचारी संबंध जोड़ दिया गया । अतः ओशो ने जब इस विषय को नये सिरे से उठाया तो यह स्वाभाविक था कि इससे न्यस्त हितों वाले -- पारंपरिक तथाकथित धर्मनेताओं को कष्ट पहुंचा । इसमें भी जब ओशो ने "संभोग से समाधि की ओर " के विषय को छेड़ते हुए , उसका उदात्तीकरण कर उस समूची उर्जा को आध्यात्मिक

शक्ति में रूपांतरित करने का एक नया दर्शन रखा तो उन तथाकथित धर्मगुरुओं के क्रोध की कोई सीमा न रही और इसके कारण आधुनिकता का दावा करने वाले पश्चिम के गालिबन 23 देशों ने अपने देश में ओशो के प्रवेश को निषिद्ध कर दिया । अपनी इन स्थापनाओं में ओशो ने फ्रायड , एडलर , युंग ; इनमें विशेषकर फ्रायड के चिंतन को विश्लेषित करते हुए उसे भी अप्रासंगिक कह दिया , क्योंकि ये सारी बातें फ्रायड से भी पहले भारत में सिद्ध साहित्य के अंतर्गत तांत्रिक-विज्ञान — तंत्र-विज्ञान में अधिक तर्क-संगत ढंग से कही गई हैं । ओशो ने भारत की इस पूर्व-परंपरा को अधिक वैज्ञानिक एवं आधुनिक स्वरूप में प्रस्तुत किया ।

फलतः जहां न्यस्त हितों वाले रूढ़िग्रस्त लोगों की तरफ से ओशो का विरोध हुआ , वहां उनके चिंतन की नैरन्तर्य-स्फूर्ति तथा नवीन अभिगम के कारण लाखों-करोड़ों लोग उनकी विचार-धारा की ओर आकर्षित होकर उनके अनुयायी बनने दीक्षा ग्रहण करने लगे ।

प्रत्येक विषय में उनके नवीन अभिगम के एक उदाहरण को उद्धृत करने का मोह संवरित नहीं कर पा रहा । ओशो कहते हैं — " भारत एक स्त्री देश है और स्त्री देश रहा है । भारत की पूरी मनःस्थिति स्त्रैण है , ठीक उसके उल्टे जर्मनी और अमरिका जैसे देशों को पुरुष-देश कहा जा सकता है । भारत की पूरी आत्मा नारी है । इसीलिए ही भारत हिंसा का कोई प्रभाव पैदा नहीं कर सका । भारत के पूरे विचार की कथा अहिंसा की कथा है । भारत के पूरे इतिहास को देखने से एक बहुत आश्चर्यजनक घटना मालूम पड़ती है । दुनिया का कोई भी देश उन अर्थों में स्त्रैण नहीं है , जिन अर्थों में भारत । आज तक हमें यही सिखाया या पढ़ाया जाता है कि पुरुषत्व या पौरुष ही सबसे श्रेष्ठ , आदर्श या अनुकरणीय गुण है और नारीत्व तिरस्करणीय — त्याज्य गुण , अर्थात् दुर्गुण है । " 56

संभवतः ओशो ही प्रथम दर्शक-चिंतक है , जिन्होंने नारीत्व का

माहात्म्य खोलकर रख दिया । वे अपने प्रवचन में कहते हैं — " भारत के पिछले तीन हजार वर्ष का इतिहास दुःख , परेशानी और कष्ट का इतिहास रहा है । लेकिन यही तथ्य आनेवाले भविष्य का — सौभाग्य का कारण भी बन सकता है , क्योंकि जिन देशों ने पुरुष के प्रभाव में विकास किया वे अबमें× अपनी मरण घड़ी के निकट पहुंच गए हैं । " 57

सन् 1968 में वे बम्बई (अब मुबई) में स्थित हो गये । यहां पर वे नियमपूर्वक विविध पर्वतीय रमणीक स्थल जैसे माथेरान , महाबलेश्वर , अम्बरनाथ आदि में ध्यान शिविर लगाते रहे । जिनके माध्यम से उनके क्रांतिकारी विचारों की गूंज-अनुगूंज विश्व में व्याप्त होती रही । फलतः उनके आसपास विश्वभर के कुछ खोजी प्रकृति के साधक-शिष्य एकत्रित होते रहे । अब तक उनकी कीर्ति यूरोप , अमरिका , जापान , आस्ट्रेलिया जैसे वैज्ञानिक दृष्टि-संपन्न आधुनिक तथा विकसित देशों में पहुंच गई थी और हजारों की संख्या में पाश्चात्य देशों के अनुयायी उनके पास आने लगे थे । उनके अनुयायियों में सभी क्षेत्रों के लब्ध-प्रतिष्ठित प्रतिभावान व्यक्ति ; जैसे कि संगीतकार , वैज्ञानिक , अन्वेषक , दार्शनिक , लेखक , चित्रकार , कलाकार , चिंतक आदि सम्मिलित होते रहे , क्योंकि रजनीशजी के व्यापक चिन्ता-फलक पर एक ओर जहां भारतीय चिंतकों में शिवजी , गोरख, कबीर , मीरा , सहजो , दादू , फरीद , कृष्णमूर्ति , रमण महर्षि , अरविंद , रामकृष्ण , विवेकानंद प्रभृति का स्पर्श है ; वहां वैश्विक धरातल से उन्होंने नित्से , फ्रायड , जुंग , एडलर , सुकरात , लाओत्से जैसे प्रसिद्ध चिंतकों को भी लिया है । जिसके कारण विश्वभर में रजनीश आश्रम की ख्याति दिन दुना रात चौ गुना बढ़ती गई । सन् 1969-70 में उन्होंने लोगों को अभिनव नव-संन्यास में दीक्षा देनी शुरू की । ऐसा प्रथम दीक्षा-समारोह कुलू-मनाली में संपन्न हुआ जो अपने ढंग का एक अभिनव प्रयोग था , क्योंकि उसमें उन्होंने

सदियों से चली आ रही रूढ़िगत दीक्षा-प्रणाली को त्यागकर विविध-लक्षीय , अनेक स्तरीय , एवं सहजिक बनाया तथा दीक्षागत जटिलताओं से लोगों को मुक्त कर नया वैज्ञानिक संन्यास-अ अभियान शुरू किया जिसमें स्व-अन्वेषण की प्रतिबद्धता को विशेष रूप से तरजीह दी गई । अब वे भगवान कहे जाने लगे , जिसका अर्थ होता है "भाग्यवान" । अपने ध्यान-साधना शिविर के अभियान को जारी रखने के हेतु तथा उसे विश्वविद्यालय बनाने के उद्देश्य से उन्होंने सन् 1974 में पुणे में छः एकड़ जमीन पर {कोरेगांव पार्क-पुणे} स्थायी आश्रम बनाया । यह आश्रम आम लोगों में रजनीशधाम के नाम से विख्यात हुआ ।

" देखते ही देखते पूना में ओशो के चारों ओर एक कम्यून जन्म लेने लगा । 1974 से 1981 तक सात साल की छोटी-सी अवधि में यह कम्यून अपने ध्यान कार्यक्रमों और थैरेपी ग्रुप्स की सघन गुणवत्ता के कारण विश्व में आत्म-रूपांतरण के सबसे बड़े केन्द्र के रूप में ख्यात हो गया । इस अवधि में पश्चिम के बड़े-बड़े थैरेपिस्ट भी ओशो के पास आकर संन्यस्त हो गए । "[58]

पूना के वर्ष : 1974-1981 :

यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि 21 वर्ष की अवस्था में सन् 1953 में भगवान रजनीश को प्रथम आत्मज्ञान हुआ था । इसे संबोधि-दिवस की संज्ञा दी गई है । इसके बराबर 21 वर्ष बाद सन् 1974 में पूना में रजनीश आश्रम का प्रारंभ होता है । अब उनका प्रभाव विश्व-व्यापी होने लगता है । यहां तक कि सन् 1978 तक में उनके आश्रम में विश्व के कोने-कोने से प्रतिदिन 200 से अधिक व्यक्ति आते थे । इन आगंतुकों का मुख्य आकर्षण-केन्द्र स्वयं भगवान रजनीश थे , क्योंकि बकौल बर्नार्ड लेविन के उनमें एक असाधारण चुंबकीय तत्त्व था कि लोग उनकी ओर बरबस खींचे चले आते थे । इस चुंबकीय व्यक्तित्त्व के मूल में उनकी बहुआयामी विषय-वैविध्यता एवं असाधारण विद्वता

तथा वक्तृत्वता था । उनके प्रवचनों के विषय — झेन , बौद्ध धर्म , सूफीवाद , हिन्दू धर्म , बाईबल , ~~फ्र~~ फ्रायड , जुंग , एडलर , आधुनिक आणविक भौतिकी , प्रतिष्ठित दार्शनिक तथा ~~प्राच्य~~ प्राच्य मनीषी संत जैसे नानक , कबीर , मीरा , फरीद , दादू , सहजोबाई आदि थे । मार्शल लियर ने उनके इन प्रवचनों के संबंध में सन् 1978 में लिखा था — " वे एक विशाल , खुले समागृह में बैठे हैं और रोज सुबह दो घण्टों तक लगभग 2000 लोगों के सामने बिना किसी लिखित टिप्पणी का सहारा लिए बोलते हैं । " 59

इन्हीं दिनों में उनका स्वास्थ्य जोरों से गिरने लगा था , अतः पूरब के ध्यान और पश्चिम की मनोचिकित्सा का मणि-कांचन योग करते हुए चिकित्सा-समूहों {थेरेपी} का निर्माण किया गया । दो वर्षों के भीतर ही उनके ये चिकित्सा-समूह विश्व के श्रेष्ठतम विकास एवं चिकित्सा केन्द्र होने की ख्याति अर्जित करने लगे । अपने गिरे हुए स्वास्थ्य के कारण भगवान रजनीश इधर अधिकाधिक एकांत में रहने लगे थे । दिन में केवल दो बार बाहर आते , प्रातःकाल प्रवचन देने के लिए और संध्या समय खोजियों तथा अन्वेषकों को संन्यास-दीक्षा एवं मार्गदर्शन देने के लिए ।

एक स्थान पर एकांत के सन्दर्भ में वे कहते हैं — " एकांत में अहं कमजोर हो जाता है क्योंकि दूसरों के साथ संबंध बनने पर ही इसका निर्माण होता है । और एकांत में तो यह बेचारा "अहं" भूखा मर जाता है । एकांत में अहं की तृप्ति नहीं हो सकती । तब यह बहुत देर तक जीवित नहीं रह सकता । " 60

उनकी इन दिनों की मेधा और चेतना के संबंध में रोनाल्ड कोनवे रोनाल्ड क्लार्क जोन आर्कराय जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने लिखा है । सन् 1980 में रोनाल्ड कोनवे लिखते हैं — " उनके संदर्भ , भावदशा

और ढंग चकाचौंध कर देते हैं , ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने सभी पूर्वीय सद्गुरुओं के संदेश का सारतत्त्व पचा लिया है और अधिकांश पाश्चात्य दार्शनिकों तथा मनश्विदों को भी । " 61

रोनाल्ड कोनवे ने ही कहा है कि जिन अत्यंत असाधारण लोगों से उनकी मुलाकात हुई है , रजनीश उनमें एक हैं । युनिवर्सिटी आफ आरेगन के धार्मिक अध्ययन विभाग के प्राध्यापक रोनाल्ड क्लार्क उनके संबंध में लिखते हैं — " पूर्वीय दर्शन ,पाश्चात्य बुद्धिवादी परंपरा , तथा मनोविज्ञान से उनका आश्चर्यकारी परिचय है । रजनीश में एक अत्यंत प्रतिभाशाली मस्तिष्क , एक असाधारण ~~[illegible]~~ वक्तृत्वकला , एक विशाल सांस्कृतिक पृष्ठभूमि , और एक पूर्वीय ऋषि का करिश्मा साकार हुआ है । उनकी किताबें (जो इनके प्रवचनों से संकलित की जाती हैं) ध्यान पर मिल सकने वाली सर्वोपरि मुग्धकारी कृतियां हैं । " 62

फाइंगपेन मैगेजिन (अमरिका) के जान आर. फ्राय उनके संबंध में लिखते हैं — " वे कोई साधारण गुरु नहीं है । उन्होंने बहुत ऊंची शिक्षा पाई है । वे धारा-प्रवाह अंग्रेजी बोलते हैं , पूर्वीय धार्मिक परंपराओं की समूची धारा से परिपूर्णरूपेण परिचित हैं , उन्हें पूर्वीय और पश्चिमी मनःचिकित्सा का पूरा विज्ञान भी अवगत है , और इस सबसे भी बढ़कर वे दास्न रूप से हाजिर-जवाब हैं । " 63

तो दूसरी तरफ भारतीय पत्रकारों ने भी उनकी गुणवत्ता को स्वीकृत किया है । नई दिल्ली से प्रकाशित बौद्धिक पत्र "पेट्रिएट " में सन् 1981 में विख्यात पत्रकार के.एम. तलगिरि ने लिखा था — " उनके प्रवचनों को सुनकर लगता है कि वे एक तांत्रिक , सूफी , हसिद , ईसाई रहस्यदर्शी , झेन और योगी है । उनकी देशनाओं (यदि यह शब्द उचित है) में रहस्यवाद की सभी प्राचीन प्रणालियों का सर्वोत्कृष्ट समाहित है । " 64

डा. सरोजकुमार वर्मा ने ओशो को एक समग्रतावादी दार्शनिक बताते हुए कहा है — " धर्म ओशो-दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है , परन्तु धर्म से उनका तात्पर्य हिन्दू , मुस्लिम , सिक्ख , ईसाई आदि संप्रदायों से नहीं है । वे किसी संगठित धर्म की बात नहीं करते । उनके अनुसार धर्म व्यक्ति का स्वभाव है , उसके अपने स्वरूप का ज्ञान है । वे धर्म को शाश्वत मानते हुए यह बतलाते हैं कि उसकी उत्पत्ति किसी बौद्धिक ऊहापोह से नहीं , बल्कि आनंद की अभिप्सा से हुई है । " 65

ओशो और उनके वाङमय पर लिखते हुए डा. उर्मिलासिंह ने कहा है — " ओशो कोई साधारण गुरु नहीं है । वे तो सद्गुरु हैं । गुरु तो एक सुनिश्चित दिशा देता है और उस सुनिश्चित दिशा में जितने लोग जा सकते हैं जाते हैं । किन्तु जो नहीं जा सकते उनके लिए वह मार्ग नहीं होता , परंतु ओशो के अनुसार सद्गुरु वह है जिसकी बाहें इतनी बड़ी है कि स्त्री हो कि पुरुष , कर्म में रस लेने वाले हों कि अकर्म में , बुद्धि में जाने वाले लोग हों कि हृदय में , जितने ढंग की प्रक्रियाएं ये हैं , शैलियां हैं , सबके लिए उपाय है , सबका स्वीकार है । गुरु तो बहुत होते हैं , सद्गुरु कभी-कभी मिलते हैं ।" 66

आज तक ~~xxxx~~ समस्त संसार में धर्म को प्रायः जीवन-विरोधी और निषेधात्मक माना गया , यहां तक कि मन और हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों को भी अस्वीकार किया गया । शरीर की तो बिल्कुल उपेक्षा की गई । धार्मिकता का अर्थ माना गया , यह मत करो , वह मत करो । अर्थात् जीवन से पूर्णतः विरक्त और उदासीन हो जाओ । पर ओशो ने निषेधात्मक धर्म की इस प्रचलित धारणा को तोड़ दिया और धर्म की विधायकता का सिंहनाद किया । ... पंडित-पुरोहितों द्वारा बताए गए कर्मकांड में उलझे हुए लोगों के लिए ओशो की "ध्यान" , "बोध" , "साक्षीभाव" संबंधी बातें समझ से बाहर थीं , इसलिए उन्होंने ओशो की उपेक्षा की । वे सर्वग्रासी लोग

ओशो को पचा न सके । उन्हें पचाने के लिए बहुत उदार हृदय चाहिए । उनमें वे ही लोग उत्सुक हो सके जिनमें परंपरा से मुक्त होने का साहस था और जिनके भीतर आध्यात्मिक प्यास थी । " 67

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि सातवें दशक के अंत तक पूना का आश्रम आधुनिक खोजियों तथा सच्चे साधकों के लिए ज्ञान-विज्ञान की एक महापीठ बन चुका था । यहां " सच्चे धार्मिक " ये शब्द ध्यातव्य हैं । वस्तुतः हमारे यहां छद्म-धार्मिकता [स्यूडो-रीलिजियानिज्म] जीवन के सभी स्तरों पर इतनी काबिज है कि सच्ची धार्मिकता की तलाश और तराश एक कठिनतम प्रक्रिया सिद्ध हो जाती है । यहां धार्मिकता के विषय में ओशो के विचार विचारणीय रहेंगे —

"धार्मिक व्यक्ति मैं उसे कहता हूं जो इस जगत की विराट गति के भीतर विश्राम को उपलब्ध है । जो जानता है कि विराट चल रहा है , जल्दी नहीं है । मेरी जल्दी से कुछ होगा नहीं । अगर मैं इस विराटता की लयबद्धता में एक बना रहूं तो वहीं काफी है । वही आनंदपूर्ण है । " 68

यहां पर उन्होंने धार्मिक व्यक्ति के आत्माभिमान निःशेष हो जाने पर जोर दिया है । ऐसे व्यक्ति की फिर अपनी कोई इच्छा नहीं रहती । वह इस ब्रह्मोदधि की एक तरंग बन जाता है और पूर्णतया उसे समर्पित हो जाता है । अब इस व्याख्या पर कितने लोग सच्ची धार्मिकता के निकष पर खरे उतर सकते हैं ?

भगवान रजनीश के चुंबकीय व्यक्तित्व का ऐसा ~~xxxxxxxx~~ प्रभाव है ~~कि~~ उसे हम स्व. हिमांशु शर्मा नामक एक सत्रह वर्षीय किशोर की रजनीश तन्मयता तथा तद्जनित स्वयंस्फूर्त काव्य-सर्जना से देख सकते हैं । उस किशोर की मृत्यु तो 19 वर्ष की अवस्था में 6 जनवरी 1992 में हो गई । परंतु उसका एक काव्य-संग्रह है — " अवचेतन

के पुष्प " । वह उसकी अमर चेतना का संवाहक बन गया है , जिसकी कुछ पंक्तियां उद्धृत करने का मोह संवरण नहीं कर पा रहा —

"धूप-छांव है प्यार तुम्हारा
कभी हंसाये , कभी रुलायें , हाथ न आये
मुखरित हो जाना अपने में , कभी-कभी तो सूनापन भी
और कभी तो भरे जगत में पास न रहता
अपना मन भी
इसीलिए तो सिसक-सिसक कर कहता हूं मैं
मौज कहूं या इसे किनारा
कभी डूबोये , पार लगाये , आश जगाये
धूप-छांव है प्यार तुम्हारा ! " 69

उन्हीं दिनों में भगवान के शिष्यों ने इस आश्रम को भारत के किसी सुदूर कोने में लगाने के प्रयास किये , क्योंकि ऐसा करके वे एक आत्म-निर्भर समाज की सृष्टि करना चाहते थे जो केवल ध्यान , प्रेम , सृजनात्मकता एवं हास्य में ही जिन्दा रहने की अपेक्षा रखता हो । परंतु तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरारजीभाई देसाई ने उनकी इस इच्छा को बर न आने दिया ।

इन दिनों में परंपरावादी हिन्दू समुदाय के एक सदस्य द्वारा उनकी हत्या का प्रयास भी हुआ । वस्तुतः भगवान रजनीश की व्यापक धर्म-चेतना में साम्प्रदायिक सोच के लिए कोई स्थान नहीं था । यही कारण था कि उन्होंने विश्व के सभी धर्मों के श्रेष्ठतम एवं संग्रहणीय तत्वों को अपने प्रवचनों में संजोया । भारतीय तत्वज्ञान में निरूपित — शून्य की परि-कल्पना का अनुसंधान वे इस्लाम में भी करते हैं — " इस्लाम में परमात्मा के सौ नाम हैं । निन्यानवे व्यक्त और सौवां अव्यक्त । जब तुम इस्लाम की फेहरिस्त देखोगे नामों की

तो ऊपर लिखा होता है : अल्लाह के सौ नाम , और जब तुम फेह-रिस्त में गिनती करोगे तो हैरान होओगे । वहां हमेशा निन्यानबे नाम होते हैं । सौ नहीं होते । सौवां छोड़ा हुआ होता है । वही असली नाम है । उसे कहा ही नहीं जा सकता । मगर कुछ तो कहना होगा । इसलिए ` अल्लाह ` कहते हैं । ` अल्लाह ` पहला नाम है इस निन्यानबे की श्रृंखला में । और जो आखिरी नाम है असली नाम है । उसे तो नाम भी नहीं दिया जा सकता । वह तो अनाम है , वह तो शून्य है । बुद्ध की भाषा में वहीं निर्वाण है , शून्य है , अव्यक्त है । उपनिषद उसे ब्रह्म कहते हैं । " 70

इस प्रकार भगवान रजनीश हमें भेद से अभेद की ओर ले जाते हैं । उनके लिए जगत का कोई भी सत्य अपरागत नहीं है । सबको वे आत्मसात करते हैं । यहां पर वे परंपरागत रूढ़िवादी लोगों के विरोध का कारण बनते हैं , क्योंकि परंपरागत रूढ़िवादी व्यक्ति अनिवार्यतः फासिस्ट मनोवृत्ति का होता है , जो ऐसे व्यक्ति के चिंतन को पचा ही नहीं सकते , क्योंकि उन्होंने तो इस्लाम के भी श्रेष्ठ तत्वों की दुहाई दी है ।

"इस्लाम की देषणियों में से एक देषणी है कि न तो मेरे पापों का कोई जवाब है और न तेरे करम का , न तेरे रहम का , न तेरी करुणा का । मैं लाजवाब गलतियां करने में और तू लाजवाब क्षमा करने में , इसलिए पश्चाताप का इस्लाम में कोई स्थान नहीं है । "71

देखिए इस्लाम की यह बात बखूबी कैसे हमारे भक्त कवि सूरदास की वाणी में मुखरित हुई है — " तो सो खरो है कौन मो सो कौन खोटो । "

पूना के इन वर्षों में अनेक देशी-विदेशी विविध प्रतिभामुखी लोग रजनीश आश्रम में आते रहे । बर्नार्ड लेविन एक व्यावसायिक पत्रकार थे जो अनेक संदेहों को अपने मन में संजोकर आये थे , परंतु एक

दूसरे ही प्रकार का रिपोर्ताज लेकर वे वापस लौटे । डच पत्रकार मार्सेल मियर , उनके साथ जो आंतरिक प्रक्रिया घटित हुई उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं —

"प्रारंभ के कुछ दिनों तक मैं अभी भी अपने पूर्वाग्रहों को समेटे रहा । धार्मिक ग्रन्थों में मुझे कोई खासियत कभी नहीं दिखी । मेरी समूह की भावनाएं उपभोक्ता संगठनों से कभी आगे नहीं गई । और मैं गुरुओं के बिना जी सकता था । मैंने ऐसे बहुत से यूरोप के निवासी भारत में घूमते देखे थे , जिन्होंने कई सैंकड़ों डालरों का मूल्य चुकाकर स्वंय को आध्यात्मिक रहस्यों में दीक्षित करवाया था । उनके गहरे अर्थ मेरे सिर के ऊपर से निकल जाते थे , सिर्फ एक कम रहस्यपूर्ण बात को छोड़कर कि शिष्य गरीब होता चला जाता है और गुरु अमीर होता चला जाता है । .... मुझे सचमुच इसका भरोसा नहीं था , कि अभी भी सच्चे सद्गुरु होते हैं । और यदि वे सचमुच कहीं हैं , तो भगवान रजनीश की भांति इतने प्रकट रूप से स्वयं को प्रदर्शित नहीं करेंगे । मुझे वे निश्चित ही बेबूझ लगे । क्योंकि उनके बारे में मैंने जो भी सुन या पढ़ रखा था वह सब मेरे दिल में उतर गया था । आश्रम के वातावरण से भी मैं कुछ दब-सा गया था । मैंने देखा कि बहुत से लोग आलिंगन कर रहे थे , रो रहे थे , नाच रहे थे , और मैं खुद शारीरिक रूप से इतना उन्मुक्त नहीं था । ..... मेरे लिए उनके उन प्रथम दर्शन का वर्णन करना कठिन है , जब वे दोनों हाथ जोड़े हुए ~~अ~~ पारंपरिक नमस्कार की मुद्रा में प्रविष्ट हुए थे । आप कह सकते हैं कि मैं सीधा ही संमोहित हो गया , मेरी आंखों में बिल्कुल सहज ही आंसू आ गये । मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था , क्योंकि मेरे साथ कुछ घट रहा था , जिस पर मेरा कुछ वश नहीं था , और ऐसा मेरे साथ शायद ही कभी हुआ है । उन्होंने कोई क्रांतिकारी नवीनताओं का उद्घोष नहीं किया , परंतु उन्होंने मुझे उन तत्वों के सीधे सम्पर्क में ला दिया जो मेरे भीतर सोये पड़े थे । सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि मुझे

तत्क्षण इस बात का यकीन हो गया कि वहां , उस श्वेत कुर्सी पर कोई बैठा था , जो अपने अनुभव से बोल रहा था । मेरे पूर्वाग्रह विलीन हो गये । " 72

आंग्ल आलोचक स्पीनगार्न ने आलोचक के कार्य के संबंध में जो कहा है , उसे प्रकारान्तर से हम भगवान रजनीश पर भी घटा सकते हैं — " सिम्पली टु नो द बेस्ट , थेट इज नोन इन द वर्ल्ड , एण्ड इन इट्स टर्न मेकिंग इट नोन टु अदर्स , थेट इज द फंक्शन आफ इम्प्रेशनिस्ट क्रिटिक. " क्योंकि रजनीश के बृहद वांङमय (उनका लिखित-उच्चारित समग्र साहित्य) पर दृष्टिपात करने पर प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि हम उनके द्वारा ही संसार की तमाम जानने योग्य बातों को , विषयों को जान रहे हैं । कोई यदि और कुछ न पढ़े और केवल रजनीशजी के साहित्य-वांङमय का अवगाहन करे तो उसे अब तक की संगृहीत समूची ज्ञानराशि का परिचय हो सकता है , क्योंकि पारंपरिक विषयों में से हटकर रजनीश जिन्हें मानव-जीवन के दैनंदिन व्यवहार की सामान्य-सी लगने वाली बातों का भी वैज्ञानिक विश्लेषण किया है , जैसे — दर्मिंग फूड , बैकनिंग-फूड , शाकाहार के साथ अंडों का प्रयोग तथा आहार के संबंध में भगवान महावीर के "ऊणोदर" संबंधी विचार और उनकी साम्प्रतिक बायोलोजिकल व्याख्या — यह उनकी विशेषता है । इस सन्दर्भ में उनका एक कथन द्रष्टव्य रहेगा —

" शाकाहार के प्रयोग में मैंने एक नयी बात जोड़ी है , क्योंकि मेरे संन्यासी शाकाहारी है और शाकाहार पूर्ण भोजन नहीं है । उसमें कुछ कमी है । उसकी कमी खतरनाक कमी है । उसमें उन प्रोटिनों की कमी है जिनसे मस्तिष्क निर्मित होता है । इसलिए किसी शाकाहारी को अब तक नोबेल प्राईज़ नहीं मिल सका । इस कमी को अंडों से पूरा किया जा सकता है और अगर अंडे बिना मुर्गों के संसर्ग के पैदा हों तो उनमें प्राण नहीं होते । उनसे बच्चे पैदा नहीं हो सकते । लेकिन उनमें वे सब प्रोटिन होते हैं जिनकी शाकाहारी भोजन में कमी

है । शाकाहारी भोजन में उन अनफर्टिलाइज्ड अंडों को जोड़ना एक नूतन प्रयोग है, जो कि सारी दुनिया के शाकाहारियों को आज नहीं तो कल करना पड़ेगा, अन्यथा तुम बौद्धिक रूप से पिछड़ते जाओगे । " 73

यहां भगवान रजनीश हमें कोई वैज्ञानिक या डाक्टर से लगते हैं, तो यही रजनीश जब अपनी मस्ती के आलम में आत्मा और परमात्मा, देह और देही, अंग और अंगी के संबंध में कहते हैं तो उनकी वाणी कविता का रूप धारण करती है । जैसे -- देह फूल है, आत्मा सुगंध है । देह शब्द है, आत्मा शब्द में प्रकट अर्थ है । देह वीणा है, आत्मा वीणा से छोड़ी गई झंकार है ... आत्मा का गेह देह ... देह को संवारो .... मंदिर के लिए पर न देव को बिसारो ... यह गेह ईश्वर का धरा देह पावन ... नागरिक पुजारी है ... नगर ग्राम आसन ... आसन पर कौन ? अरे कोटि नयन वारो ... आर जीवन, पार जीवन ... मरण मणिमय देहली है ... दीप अनुभव का ... शिखा में लौ लगाये ... बेकली है ... वरो मन निर्वाण ... ज्वाला बिन, जले बिन दीयो जियो, जीभर जियो । "74

यह परम आनंदमय साधनामार्ग भारतीय अध्यात्म को उनकी देन है । " टु मी आल जोय इज डिवाइन / जोय एज सच इज डिवाइन / इफ वन केन बी जोय फुल / वन इज इन प्रेयर / धेन धेर इज नो नीड आफ अदर प्रेयर / यु आर कान्स्टण्टली आफरिंग योरसेल्फ टु गोड / सो जोय इज डिवाइन / एण्ड नोट टु गेट जोय फूल इज टु बी इरीलिजियस / सो इफ वन थिंग यु केन डु / एवरी थिंग विल फोलो / जस्ट बी एस्थेटिकली जोयफूल . " 75

पूना के इस आश्रम के संबंध में जीन लीएन ने "वोग" मैगेजिन में सन् 1977 में लिखा था -- इस अनोखे आश्रम को खुद अपनी आंखों से देखने ही मैं वहां गई थी । स्कोटिश चर्च की दृढ़ निष्ठा में पली-

बद्री में , मुझे कई सवाल पूछने थे , कई प्रतिबंधों को पार करना था , लेकिन 13 दिन तक भगवान के अतुलनीय प्रवचनों को सुनने के बाद, अब सारी अनिश्चितताएं विदा हो चुकी हैं । ..... अपने जीवन-दर्शन में उन्होंने जो भी कहा , मेरे देखे उसमें सत्य का निश्चित स्वर था , एक नया अनुभव । " 76

इस तरह भगवान रजनीश और उनके आश्रम की ख्याति फैलती चली गई , साथ ही साथ वे अनेक विवाद भी खड़े करते गये , जैसा कि रोनाल्ड कोनवे ने इस बारे में लिखा है — " दूसरा गाल सामने करने का चिर-समादृत सिद्धान्त रजनीश के लिए नहीं है । जहां वे दिव्य और पार्थिव प्रेम की ऐसी चर्चा कर सकते हैं जो हृदय को पिघला दें , वहां वे राजनीति , परंपरागत धर्म , धर्मविदों और जनता के मन-पसंद व्यक्तियों पर इस कदर दुःसाहसी उग्रता से हुहxमङ्लेxहैंxxx प्रहार करते हैं कि उनका सर्वाधिक निष्ठावान श्रोता भी चौंक जाए । भारतीय संसद में रजनीश की प्रशंसा भी हुई है और प्रतिवाद भी हुआ है । पश्चिमी जर्मनी के समाचार पत्र उनके संबंध में विवादों से भरे हुए हैं , क्योंकि जर्मन राष्ट्रीयता के लोग आश्रम में अधिक हैं । " 77

पूना के इस आश्रम का महत्व केवल उनके प्रवचनों तक सीमित नहीं है । यहां उन्होंने मनx " मन की सफाई " तथा " चेतना-विस्तार" के लिए अनके मनः चिकित्साओं का सामूहिक आयोजन किया जिसमें उन्होंने पूर्व तथा पश्चिम की अनेक विधियों को कार्यान्वित किया । पश्चिम के जाने-माने मनो-चिकित्सक अमरिका, ब्रिटेन , जर्मन आदि देशों से आते थे । ये मनोचिकित्सक अपने-अपने देश में व्यवसाय के अग्रणी व्यक्ति थे । दूसरे शब्दों में कहें तो अपने-अपने क्षेत्र के सफल व्यक्ति थे और वे आश्रम में काम करने के लिए अपना व्यवसाय और अतुल संपदा छोड़ आये थे । यहां उन्हें केवल दो समय का भोजन ,

एक बिस्तर और भगवान के प्रवचन में जाने की मुफ्त टिकट मिलती थी ।

यहां की चिकित्सा विधियों में मसाज , रिफ्लेक्सोलोजी , एलेक-जांडर टेकनिक , एक्युपंक्चर , राल्फिंग , पाश्चुरलइण्टीग्रेशन , हिप्नोसिस , काउन्सलिंग , रीबर्थिंग , सक्रियध्यान और ऐसी अनेकों विधियां शामिल थीं । इन पाश्चात्य मनोचिकित्सक विधियों के साथ पूर्वीय विधियां जैसे झेनध्यान , योग , ताईची और बौद्ध तथा हिन्दू ध्यान की विधियां भी उनमें निहित रहती थीं । इस प्रकार वह विश्व का एक श्रेष्ठ समूह मनोचिकित्सक केन्द्र हो गया था ।

यहां जिन ध्यान-पद्धतियों का उल्लेख किया गया है , वे विशेषतः आधुनिक मनुष्य के लिए विकसित की गई हैं । रहस्यवाद की अनेकानेक प्राचीन विधियों को इनमें लिया गया है । स्विटजर्लेण्ड के आंद्रीयस उह्लीग ने सन् 1981 में इन चिकित्सा-समूहों के संबंध में इंगित करते हुए कहा है — " रजनीश के अहाते में सचमुच कुछ असाधारण घट रहा है ; व्यक्ति मुक्त किए जा रहे हैं , अर्थात् सारे प्रतिबंधों और सामाजिक नियंत्रणों से असंस्कारित किए जा रहे हैं । " 78

कनाडा के मोरीस राय ने सन् 1981 में ही इस संबंध में एक विवरण दिया है — " दरअसल ऐसा लगता है कि पूना का आश्रम हजारों साल पुरानी पूर्वीय परंपराओं को आधुनिक पाश्चात्य विधियों के साथ संमिश्रित करने का एक बहुत ही साहसी और फलदायी प्रयास है ... वह एक साथ ध्यान-केन्द्र , उत्सव का स्थान और एक विराट प्रयोगशाला है , जहां चेतना को अन्वेषित करने की नयी तकनीकें आविस्कृत की जा रही हैं । " 79

वस्तुतः श्लील और अश्लील की हमारी परिभाषाएं तथा समझ

संदिग्ध है । बकौल अज्ञेयजी के खंडित दृष्टि ही अश्लीलता है ।[80] किसी भी वस्तु या विषय को उसके मूल संदर्भ से काट देने पर विकृति या अश्लीलता पैदा होती है । इधर "धर्म" पर एक पुस्तक देखने में आयी थी । उसमें एक पृष्ठ पर "चोदना" शब्द लगभग आठ-दश बार प्रयुक्त हुआ है , और उसके कई-कई अर्थ द्योतित किए गए हैं । वस्तुतः उस पुस्तक में वह शब्द मूल संस्कृत तत्सम शब्द के रूप में व्यवहृत हुआ है , और संस्कृत में उसका वह अर्थ लिया भी नहीं जाता , तथापि यदि कोई व्यक्ति उसके लेखक को बदनाम करने के इरादे से लेखक के मूल आशय और संदर्भ से काटकर उसे विकृत रूप में प्रस्तुत करे तो उसका स्वरूप अश्लील हो जायेगा ।[81] उसी प्रकार अंग्रेजी के विख्यात लेखक इर्विंग वालेस का एक उपन्यास है — "सेवन मिनट्स " । उस उपन्यास में उसी नाम के एक उपन्यास की बात आती है जिस पर अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है । तब प्रकाशक का एडवोकेट एक स्थान पर कार्ट में कुछ शब्दों तथा गद्यखण्डों को प्रस्तुत करता है , और वहां बैठे श्रोताओं को निवेदित करता है कि उन्हें श्लीलता और अश्लीलता के दो खंडों में विभाजित करें । सबके आश्चर्य के बीच यह देखा गया कि जिन अंशों को अश्लील बताया गया था वे सब बाईबल से लिये गये थे और जिनको श्लील बताया गया था वे सब अंश बाजारू कही जाने वाली पुस्तकों से लिए गए थे । अभिप्राय यह कि कोई भी वस्तु अपने संदर्भ से विच्छिन्न होकर अपना मूल स्वरूप व आशय खो बैठती है ।[82]

और ठीक यही रजनीशजी के पूना आश्रम के संबंध में भी हुआ । "सेक्स" संमोहन , चिखने-चिल्लाने के एनकाउण्टर ग्रुप और अनिर्बन्ध हर्षोन्मादित ध्यान ; इन सबने पिली पत्रकारिता के प्रेतों को पर्याप्त गोलाबारूद दिया और ऐसे लोगों ने आश्रम पर अनेक विवादास्पद मनगढंत कहानियों को प्रचारित करते हुए इसे लांछित करने का प्रयास किया । यह सब इसलिए होता था कि रजनीशजी सहस्त्राधिक

HANSA MEHTA LIBRARY

वर्षों से चली आ रही परंपरागत मान्यताओं पर कुठाराघात करते थे, जो परतंत्रचेत्ता लोगों की चेतना को पचना नहीं था ।

जैसे रजनीश के एक व्याख्यान में सूफी संत राबिया का प्रसंग आता है । राबिया ने अपनी धर्म-पुस्तक में से कुछ वचन काट दिये थे । -वे वचन जहां शैतान को घृणा करने के लिए कहा गया है । एक दूसरा फकीर राबिया के यहां मेहमान के रूप में आया । उसने कहा — "राबिया , ये तूने क्या किया ? यह तो गुनाह है , यह तो पाप है , यह कुफ्र है । तूने कुरान के वचन काट दिये । कहीं शास्त्रों में संशोधन होता है ? वे तो जैसे हैं वैसे हैं । ईश्वर का संदेश है । इसमें संशोधन करने वाले तुम कौन ? " तब राबिया ने कहा था — प्यारे हसन , मैं क्या करूं ? इसमें मेरा कोई कसूर नहीं । वही करवाता है , मैंने बहुत अपने को रोका कि यह करना ठीक नहीं । जैसा तुम कहते हो , मैंने भी अपने को बहुत समझाया , बहुत दिन रोका , बहुत दिनों तक कुरान की किताब के पास भी नहीं जाती थी कि वहां गई कि संशोधन करूंगी । मगर यह कब तक रुक सकता था , एक दिन यह हो गया । यह होना अनिवार्य था । क्योंकि जबसे परमात्मा को जाना है , तबसे अगर शैतान भी मेरे सामने खड़ा हो , तो मुझे शैतान नहीं दिखाई पड़ेगा , परमात्मा ही दिखाई पड़ेगा । अब मैं शैतान को घृणा कैसे कर सकती हूं ? पहली बात तो यह है कि परमात्मा को जानने के बाद दूसरा कोई बचा नहीं । अब तो शैतान भी परमात्मा में ही लीन हो गया । दूसरी बात मेरे भीतर प्रेम के अतिरिक्त घृणा नहीं बची । बाहर शैतान नहीं बचा , भीतर घृणा नहीं बची । और यह सूत्र कहता है कि शैतान को घृणा करो । ये दोनों बातें असंभव हो गई । न शैतान दिखाई पड़ता है कहीं और न घृणा शेष रही । अब मैं क्या करूं ? अब मैं यह तरमीन न करूं , सुधार न करूं , तो क्या करूं ? मजबूरी है , करना ही पड़ा है ।" 83

अब इस पर रूढ़िग्रस्त मुसलमान नाराज़ न होंगे तो क्या होगा ?
इसी भांति हमारे परंपरागत चिंतन पर आघात करते हुए उन्होंने कहा है — " यह देश बहुत पुराने समय से , सदा से , सनातन से गरीब है । यह गरीबी — हमने सोचा इस पर ? हमारे विचारकों ने न सोचा हो , ऐसा नहीं है , लेकिन हमारे विचारकों ने इस गरीबी को इस भांति सोचा ताकि वह स्वीकृत हो जाये , अंगिकार हो जाये । हमने गरीबी के लिए व्याख्याएं की और हमारी सबसे खतरनाक व्याख्या यह थी कि हमने गरीबी को व्यक्ति के पूर्व-जन्म के कर्मों से जोड़ दिया । यह इतनी खतरनाक , इतनी स्यूसाइडल , इतनी आत्मघाती व्याख्या थी कि इसके कारण हम 5000 साल गरीब रहे । और अगर यह व्याख्या अब भी जारी रहती है ... और ऐसा लगता है कि अब भी जारी है । साधु और संत और महात्मा गांव-गांव लोगों को यही समझाते हुए फिर रहे हैं कि आदमी गरीब है , अपने पिछले जन्मों के फल के कारण । गरीबी को पिछले जन्मों से जोड़ देने का मतलब यह है कि गरीबी नहीं बदली जा सकती । "[84]

अब इस पर हमारा बुर्जुआ पुंजीवादी समाज न टूट पड़ेगा तो क्या होगा ? क्योंकि यहां रजनीश उनके शोषण के रास्तों पर रोक लगाना चाहते हैं । जो वे भला क्यों पसंद करेंगे ?

वस्तुतः रजनीश-आश्रम पर लांछनाओं का कारण धर्म , राजकारण तथा समाज में बैठे न्यस्त हितों वाले लोगों के हितों पर कुठाराघात होने के कारण था । रजनीश लोगों को विचारवान और हृदयवान बनाना चाहते थे । और लोगों को यही तो पसंद नहीं है । वे कहते हैं — " रीमेम्बर वन थिंग , अनलेस द ट्रुथ इज योर ओउन एक्सपीरियन्स , वोट कैन यु बीलिव अबाउट . ट्रुथ इज ओन्ली ए बीलिफ एण्ड आल बीलिफ्स आर लाई , एण्ड आल बीलिवर्स आर ब्लाइण्ड. "[85]

इसी उपक्रम में एक स्थान पर वे कहते हैं — " अब भी हम सोचते हैं ,

तो पहले यह पूछते हैं कि गीता क्या कहती है ? अब गीता को कब तक परेशान करेंगे और कृष्ण ने अपना क्या बिगाड़ा है ? पैदा हो गये आपके मुल्क में तो कोई कसूर हो गया, अपराध हो गया ? उनका पीछा कब तक करेंगे ? लेकिन पहले हम गीता खोलेंगे । समस्या आज की, शास्त्र कल का । उसका मूल क्या है ? लेकिन पहले शास्त्र में खोजेंगे । शास्त्र-सम्मत कोई रास्ता मिल जाय । शास्त्र में कुछ रास्ते हैं, वे हम खोज लेंगे । वे रास्ते लागू नहीं होंगे क्योंकि यह बुद्धि जो शास्त्र में खोजती है अवैज्ञानिक है । शास्त्र की तरफ देखना बंद करना पड़ेगा । वैज्ञानिक बुद्धि शास्त्र की तरफ नहीं देखती । बल्कि ध्यान रहे जबसे कुछ लोगों ने शास्त्र की तरफ देखना बन्द किया तभी से विज्ञान पैदा हुआ ।" 86

हमारे तथाकथित धार्मिकनेता, उद्योगपति, राजनेता आदि विज्ञान की बातें तो करते हैं ; परन्तु वैज्ञानिक चिंतन से कतराते हैं । रजनीश आश्रम के संबंध में जो ~~अर्थ~~ अनर्गल लांछनाएं हुईं उसके मूल में यही सब है । अन्यथा पूर्वाग्रह-निरपेक्ष लोगों ने तो कहा है -- " रजनीश आश्रम की सर्वप्रथम गुणवत्ता जो किसी भी आगंतुक को दिखती है, और वह बार-बार दिखती ही चली जाती है, वह यह कि लोग कितनी सरलता और निश्चिंतता से अपनी आस्था का वरण किए हुए हैं । यद्यपि वे अडिग रूप से आश्वस्त हैं (मुझे सिर्फ एक व्यक्ति मिला जिसके भीतर थोड़ा-बहुत संदेह अवशिष्ट था) कि रजनीश ने ~~इसने~~ इन्हें अपने जीवन का अर्थ खोजने के और अस्तित्व में अपना स्थान प्राप्त कर लेने के योग्य बनाया है, फिर भी उसमें धर्मान्धता ~~का~~ का कोई लेश न था, और अधिकांश लोगों में तो उत्तप्त धर्मोत्साह तक न था । " 87

सन् 1981 में भारतीय समाचारपत्र "डेली" ने लिखा -- " संन्यासी विश्वभर के प्रतिभाशाली लोगों में से थे, उनमें रायल ड्रामेटिक

अकादमी के सदस्य थे ; कला , सिनेमा और संगीत जगत के अग्रणी थे और अत्यन्त परिष्कृत पश्चिम से आये कुछ तंत्रविद भी थे । पूना के लोग कुछ भी कहें किन्तु रजनीश के लोगों में एक उत्कृष्टता थी । वे अपने अटपटे ढंग से इस शहर में एक जगमगाहट , एक चमक-दमक और एक चारुता लाये थे । रजनीश आश्रम ने एक ही जगह इतनी प्रतिभाएं इकट्ठी कर दी थीं जितनी शायद ही कोई संस्था कर सके । रजनीश थियेटर-ग्रुप बम्बई के रंगमंच पर कुछ बेहतरीन अभिनय-कला ले आया । उनके संगीतकारों को आधुनिक पाश्चात्य संगीत की अधिक समझ थी , खासकर ज़ाज और ब्लूज़ की । कुछ और सृजनात्मक कलाओं के क्षेत्र में रजनीश आश्रम के पास सर्वश्रेष्ठ उद्यान-वैज्ञानिक और हाईड्रो-पोनिक -- कृषि के विशेषज्ञ थे । आश्रम की कार्यशालाओं में साबुन और प्रसाधन की अन्य वस्तुएं भी बनती थीं । * [88]

ऊपर जिन उद्यान-वैज्ञानिक और हाईड्रोपोनिक कृषि विशेषज्ञ का जिक्र हुआ है , उनमें पूना के नाला पार्क के स्थपति तथा कृषि-विशेषज्ञ निहार और सिद्धेना के नाम विशेष उल्लेखनीय होंगे । सिद्धेना के ये शब्द भी यहां उल्लेखनीय समझे जायेंगे -- " यह बगीचा तैयार करना ओशो के शरीर को तैयार करने जैसा था । उन्होंने कहा है न , जब मैं अपने शरीर में नहीं रहूंगा तो फूलों में , पत्तों में , झरनों में , हवाओं में रहूंगा , तुम्हारे बिलकुल करीब । अब मैं बगीचे में जाता हूं तो मुझे यह महसूस होता है कि ओशो की बांहों में समा गया हूं । वे सब तरफ से मुझे घेर लेते हैं । रजनीशपुरम में हमने जब उद्यान बनाये तो ओशो ने कहा था --' लेट द रीवर , रीवर । तुम बीच में मत आओ । इस उद्यान में भी हमारा यही रुख था कि लेट द गार्डन बी गार्डन । उद्यान को उद्यानित होने दो । * [89]

अपने चेतना-सापेक्ष स्वतंत्र वैज्ञानिक कर्तनिष्ठ चिंतन के कारण विश्व

के अधिकृत धर्मों एवं मंदिर-मस्जिद, चर्चों ने, पूरब एवं पश्चिम में उनका काफ़ी विरोध किया। कुछ परंपरावादी हिन्दू समुदायों ने तो उनकी हत्या तक के प्रयास किये। परंतु तब तक विश्वभर में उनके गालिबन ढाई लाख से ऊपर संन्यासी हो चुके थे। सन् 1981 से एक नया दौर शुरू हुआ, जिसमें उन्होंने यु.एस.ए. में रजनीशपुरम की स्थापना की।

रजनीशपुरम -- यु.एस.ए. का दौर [सन् 1981-1985] :

उनके जीवन का यह दौर सर्वाधिक विवादास्पद रहा है, जिस पर अनेकानेक ग्रंथ एवं लेख लिखे गये हैं। अपने इस अध्ययन की सुविधा के लिए उनके इस दौर की प्रवृत्तियों और स्थितियों का ब्यौरा हम निम्नलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत कर रहे हैं -- [क] ओरेगोनस्थित रजनीशपुरम, [ख] भगवान की मौन-अवस्था, [ग] आलफ्रेड प्ली और [घ] भगवान की वापसी।

[क] ओरेगोनस्थित रजनीशपुरम :

सन् 1981 के बाद उनकी रीढ़ की बीमारी ने गंभीर रूप ले लिया था, अतः उनके डाक्टरों तथा शिष्यों के आग्रह से, उनको उचित चिकित्सा के लिए अमरिका जाना पड़ा। वहां उनके अमरीकी शिष्यों ने अमरीका के ओरेगोन के अर्द्धरेगिस्तानी इलाके में एक 64000 एकड़ का पशु-फार्म खरीदा। अति-चराई के कारण यह पशु-फार्म लगभग मृतप्राय बंजर जमीन बन चुका था, जो उनके सानिध्य से एक लहलहाते मरु-उद्यान में रूपांतरित हो गया। उसकी उपज पर पांच हजार व्यक्तियों का भरण-पोषण होता था। उनके ग्रीष्मकालीन महोत्सव में प्रायः बीस हजार लोग आते थे जिनके आवास एवं भोजन की व्यवस्था सुचारु रूप से होती थी। इसी कृषि-कम्यून की देखादेखी उसके समानान्तर प्रमुख पाश्चात्य देशों एवं जापान में भी बड़े-बड़े निर्मित किए गये।

इस बीच वे धर्मनेता के रूप में अमरीका में स्थायी आदेश के लिए आवेदन दे चुके थे , जिसको बादमें अमरीकी सरकार ने अस्वीकृत कर दिया । अस्वीकृति के कारण में एक तो उनके मौन को बताया जाता है , परंतु प्रकट और स्पष्ट कारण तो यह लगता है कि ईसाई बहुमत की ओर से सरकार पर बहुत दबाव पड़ रहा था । आश्चर्य और विडंबना की बात तो यह है कि जिन "भूमि उपयोग नियम "[लैंड युज़ लोज़] के तहत उनको यह कृषि-कोम्यून बन्द करने के लिए कहा जा रहा था उसमें पर्यावरण की सुरक्षा का मुद्दा सबसे ऊपर था । वस्तुतः ओरगोन स्थित रजनीशपुरम तो इकोलोजी का एक सर्वोत्तम उदाहरण सिद्ध हो सकता था , क्योंकि बंजर भूमि के एक टुकड़े को उपजाऊ बनाते हुए उसे एक हरे-भरे उद्यान में बदल दिया गया था । सन् 1985 के चौदह सितम्बर को अचानक उनकी निजी सचिव मा योग शीला तथा कम्यून के व्यवस्था विभाग के कई सदस्य यकायक चले गये और उनके द्वारा किए गए अवैधानिक कृत्यों का एक पूरा ढांचा प्रकाश में आया । उनके पूना स्थित आश्रम की निजी सचिव मा योग लक्ष्मी थी । परंतु अमरीका स्थित ओरेगोन के कम्यून में यह चार्ज मा योग शीला ने ले लिया था । वस्तुतः मा योग शीला तथा उनके कुछ सहयोगियों ने भगवान रजनीश की प्रतिभा को भुना-कर उसके द्वारा श्री-संपदा-शक्ति-प्रसिद्धि प्राप्त करने हेतु एक षड-यन्त्र की रचना की जिसके तहत उन्होंने उनके लिए जाली पासपोर्ट बनवाया । अतः जब ये अवैधानिक बातें प्रकाश में आयीं तो भगवान ने अमरीकी अधिकारियों को शहर में आकर पूरे मामले की छानबिन का खुला आमंत्रण दे दिया । अधिकारियों ने इसका प्रयोग कम्यून के खिलाफ़ चल रहे संघर्ष को गति देने में किया । वस्तुतः उनके प्रवचनों में ईसाई मत के संबंध में कुछ आपत्तिजनक टिप्पणियां की गयी थीं , जिसकी वजह से ईसाई रूढ़िग्रस्त बहुमत उनके खिलाफ़ होता जा रहा था । एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

"बाईबल में मैंने विवाद के लिए बहुत से स्थल पाये हैं । शुरू से ही

यह मुझे जंची नहीं । बाईबल कहती है —" प्रारंभ में शब्द था , शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ही ईश्वर था ।" मैं इस मूढ़तापूर्ण शुरू- आत से सर्वथा असहमत हूं । प्रारंभ में शब्द कैसे हो सकता है ? क्योंकि शब्द का अर्थ×होता×है मतलब होता है — एक अर्थपूर्ण ध्वनि और अर्थ केवल किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा ही दिया जा सकता है । ध्वनि अपने आप में अर्थहीन होती है । यह बेहतर होता यदि उन्होंने कहा होता कि "प्रारंभ में ध्वनि थी " । लेकिन वह भी परिपूर्ण सही शुरूआत न होती , क्योंकि ध्वनि के अस्तित्व के लिए भी कानों की जरूरत है । कानों के बगैर ध्वनि का कोई अर्थ नहीं । सर्वोत्तम और सर्वाधिक परिपूर्ण तो यह रहा होता —" प्रारंभ में मौन था" । बाई- बल के इस वक्तव्य से उसकी शुरूआत-पहल ही गलत दिशा में हो जाती है और वह गलत दिशा में बढ़ती चली जाती है । " [90]

उनके ऐसे वक्तव्य भला रूढ़िग्रस्त धर्मावलम्बियों को कैसे सह्य हो सकते हैं ? फलतः एक विचार का गला घोंटने के लिए , वैचारिक स्वतंत्रता की बढ़-चढ़ कर बातें करने वालों ने ही उनको कानून के अटपटे दावपेचों में फंसाने का उपक्रम रखा , जिसके फलस्वरूप अन्ततः उन्हें ओरेगोन का वह कम्यून मजबूरी में छोड़ना पड़ा ।

(ख) भगवान श्री की मौन अवस्था :

सन् 1981 , एक मई से भगवान श्री रजनीश ने प्रवचन देना बन्द कर दिया और मौन-व्रत धारण कर लिया , जिसे वे हृदय के हृदय के संवाद के रूप में देखते हैं । अमरीका में उन्होंने एक धार्मिक नेता के रूप में स्थायी होने हेतु आवास के लिए आवेदन दिया था , जिसे अमरीकन सरकार ने अस्वीकृत कर दिया था । अस्वीकृति के लिए जो अनेक कारण दिए गए थे , उनमें एक कारण उनका यह मौन-व्रत भी था । [91]

§ग§ आल्फर्ड प्ली :

29 अक्तूबर, 1985 को शोर्लोट — न्यू केरोलाईना में उन्हें बिना किसी वारंट के गिरफ्तार किया गया। यहां उनके साथ अमानवीय व्यवहार हुआ। जमानत की सुनवाइयों के समय वे जंजिरों में होते थे। बाद में उनको आक्लोहामा की एक एकांतिक कोठरी में रखा गया।[92] वहां उनके साथ एक कैदी था, जो हर्पिज़ का शिकार था। यह एक संक्रामक एवं घातक बीमारी बताई गई है।[93]

अन्ततः अमरीकी न्याय-व्यवस्था §9§ के खतरों से उनकी रक्षा करने हेतु उनके वकीलों ने उनसे बिनती की कि वे उन पर लगाये गये 34 लघु अप्रवास नियम उल्लंघनों में से दो अपराधों की स्वीकृति दे दें। उन्होंने उन्हें बताया कि यदि वे ऐसा करते हैं तो उन्हें मुक्ति मिल जायेगी। अतः भगवान रजनीश ने उन वकीलों को अपनी मौन स्वीकृति दे दी, जिसे एल्फर्ड प्ली के नाम से जाना जाता है। इसके तहत उनका चार लाख डालर का जुर्माना किया गया तथा उन्हें तत्काल अमरीका छोड़ देने का और पांच साल तक पुनः न आने का आदेश दिया गया।[94]

उसी दिन वे अपने प्राईवेट जेट से भारत आये और हिमालय में विश्राम करने चले गये। एक सप्ताह के बाद ओरेगोन के कम्यून को विसर्जित कर दिया गया। अमरीका में जो उन पर कानूनी कारवाही हुई उस संबंध में अमरीका के एटर्नी चार्ल्स टर्नर ने एक प्रेस सम्मेलन में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए तीन सूचक बातें बताई थीं। वह प्रश्न था — " उनकी सचिव के खिलाफ लगाये गये आरोप भगवान पर भी क्यों नहीं लगाये गये ? "

इस प्रश्न के उत्तर में टर्नर ने कहा था कि सरकार की पहली प्राथमिकता कम्यून को नष्ट करने की थी और अमरीकन अधिकारियों को इस बात

का पता था कि भगवान को हटा देने मात्र से उनके इस उद्देश्य की पूर्ति हो जायेगी । दूसरे वे भगवान को एक शहीद नहीं बना देना चाहते थे । तीसरे भगवान रजनीश को एक भी अपराध में लपेटने के लिए उनके पास कोई ठोस प्रमाण नहीं था । [95]

टर्नर महोदय की उक्त तीनों बातों से अमरीका की न्याय-व्यवस्था या न्याय-प्रियता की कलई खुल जाती है । वस्तुतः ईसाइयत पर हुए प्रहारों के कारण वहां की सरकार तिलमिला गई थी और फलतः रजनीश से किसी प्रकार मुक्ति पाने हेतु उन्होंने न्याय का यह ढोंग रचाया था ।

विश्वभ्रमण :

अमरीका से लौट आने पर ओशो रजनीश कुछ समय के लिए हिमालय में स्थित हिमाचल प्रदेश में विश्राम करते हैं । परंतु उसके बाद शुरू होता है उनके विश्वभ्रमण का दौर । मानव-इतिहास का गौरवमय पृष्ठ होता वह यदि विश्व के शासनकर्ता लोगों ने उनका एक स्वतंत्र-चेत्ता के रूप में स्वागत किया होता । परंतु यह विश्वभ्रमण तो उनको बहिष्कृत करने की प्रक्रिया के तहत हुआ , क्योंकि ओशो की विचार-धारा उन तमाम लोगों के लिए एक चुनौती थी जो लकीर के फकीर थे और अपनी पुरानी लीक से एक इंच भी विचलित होना नहीं चाहते थे । साथ ही दूसरे लोग भी उनका ही अनुसरण करें यह उनकी अभिप्सा थीं । अतः रूढ़िचुस्तों के परम मुखिया अमरीका के द्वारा इस मुहिम को आगे बढ़ाया गया और अमरीका के हस्तक्षेप के कारण ही उन्हें एक देश से दूसरे देश में स्थानांतरण करना पड़ा । इससे रजनीश या उनके अनुयायी तथा उनकी विचारधारा को जो सहन करना पड़ा वह तो एक दीगर बात है , परन्तु इससे स्वतंत्रता का दंभ भरने वाले देशों की स्वायत्तता और स्वतंत्रता पर एक बड़ा

प्रश्न चिह्न लग गया । इससे पूंजीवादी ताकतों का अंदाजा लग सकता है । इसे कहते हैं वणिक-राज्य । क्षात्रधर्म का लोप हो गया । वणिग्धर्म का बोलबोला हो गया । इसके कारण ही ओशो रजनीश को अपने जीवन के अंतिम वर्षों में एक विश्व-बंजारे — खानाबदोश — के रूप में इतः स्ततः भटकना पड़ा , जिसका संक्षिप्त ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है ।

/1/ दिसम्बर 1985 :

ओशो रजनीश को भारत से नेपाल {काठमांडू} जाना पड़ा , क्योंकि भारत सरकार ने उनके सचिव , उनके एक साथी-साथिन और उनके एक चिकित्सक {स्वामी अमृतो} का वीसा रद कर दिया और उन्हें भारत छोड़ने का आदेश दिया । नेपाल में जाकर उन्होंने पुनः अपनी प्रवचन-यात्रा प्रारंभ कर दी ।[96] किन स्थितियों में ओशो को नेपाल जाना पड़ा उसका चित्रण स्वयं ओशो ने निम्नलिखित शब्दों में किया है — "अमरीकी सरकार भारत पर दबाव डालने लगी कि मुझे भारत में ही रखा जाए और बाहर कहीं भी जाने की अनुमति न दी जाए । और दूसरी बात , कि कोई विदेशी , खासकर प्रेसवालों को मुझसे न मिलने दिया जाए । ये दो शर्तें थीं , जिन्हें मैं स्वीकार नहीं कर सकता था । मैं कभी कोई शर्त स्वीकार नहीं करता । मैं एक स्वतंत्र व्यक्ति हूं और हमेशा एक स्वतंत्र व्यक्ति की भांति ही मैंने जीना और मरना चाहा है । चाहे मुझे गोली मार दी जाए , कोई हर्ज नहीं । लेकिन मैं किन्हीं शर्तों का गुलाम नहीं बन सकता । अगर मुझे इन शर्तों के अधीन जीना पड़ता कि मैं भारत में रहूं और मेरे विदेशी शिष्य मुझसे मिल न सकें , तो ऐसे जीने में क्या सार ? यह लगभग मुझे मार ही डालने वाली बात थी । यह तो जीते जी मृत्यु हो जाती । {अतः} इससे पहले कि वे मेरा पासपोर्ट छीनते , कि मैं कहीं आ-जा न सकूं , मैंने भारत छोड़ने का निर्णय किया । वहां से मैं नेपाल चला गया — क्योंकि वही एक देश था जहां मैं

बिना वीसा के जा सकता था , वरना तो भारत सरकार ने सारे दूतावासों को सूचित कर दिया था कि मुझे कोई वीसा न दिया जाए । लेकिन नेपाल जाने के लिए वीसा की जरूरत नहीं थी । इसलिए मैं नेपाल चला गया । " [97]

/2/ फरवरी – 1986 :

नेपाल छोटा-सा देश है । बहुत गरीब भी । उस पर भारत का आर्थिक दबाव भी है । अतः जब ओशो को विश्वसनीय सूत्रों से ज्ञात हो गया कि उनको गिरफ्तार करके भारत भेजने की योजना बन रही है , तब मध्य फरवरी में उन्होंने नेपाल छोड़ने का फैसला कर लिया । "अब मैं पूरे विश्व की यात्रा पर जाऊंगा , ताकि संसार भर में सबसे सीधी बात कर सकूं और नींद में सोए लोगों को झक-झोर कर जगा सकूं । " [98] अपनी विश्वयात्रा के हेतु को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं -- " मेरी विश्वयात्रा का उद्देश्य था कि मैं लोगों को उनके कारागृह की याद दिलाऊं , लोगों को उनकी संभावना की याद दिलाऊं — कि वे क्या हैं और क्या हो सकते हैं । ... मैं इसलिए भी पूरे विश्व की यात्रा पर गया था , क्योंकि हमें एक ऐसी विश्वशक्ति तैयार करनी है कि फिर किसी सुकरात को जहर देने की हिम्मत न की जा सके । वरना तुम फिर-फिर वही गलती दोहराते जाओगे : जब भी कोई सुकरात आएगा उसे मार डालोगे । " [99] इस प्रकार ओशो तीन महीने के पर्यटक वीसा पर ग्रीस गये , जहां वे ग्रीक फिल्म निर्माता के विशाल महलनुमा भवन में ठहरे और दिन में दो बार प्रवचन देने का उपक्रम रखा । वहां उनको सुनने के लिए उनके शिष्य हजारों की संख्या में उपस्थित होते थे । ग्रीस के कट्टरपंथी रूढ़िग्रस्त धर्म-पुरोहितों को भला यह क्यों भाता ? अतः उन्होंने ग्रीक सरकार को धमकी दी कि यदि रजनीश को निष्कासित नहीं किया गया तो वे खून की नदियां बहा देंगे । [100]

/3/ मार्च-5 : 1986 :

धर्म-पुरोहितों की उक्त धमकी के कारण ग्रीस की पुलिस उनके निवास-भवन में घुस आई और बिना वारंट के उन्हें गिरफ्तार कर लिया । वे लोग उन्हें एथेन्स ले गये , जहां 25000 डालर की राशि अधिकारियों को देने पर उन्होंने ओशो को भारत जा रहे पानी के जहाज में बिठा दिया ।[101]

/4/ मार्च-6 : 1986 :

जहाज से बीच में उतरकर एक प्राइवेट जेट विमान से वे स्विटजर्लैण्ड के लिए रवाना हुए , जहां उनका स्वागत §9§ सशस्त्र पुलिस ने किया । उनका सात दिवसीय वीसा रद्द कर दिया गया । "अमरीका में आप्रवास नियमोल्लंघन ★x " के कारण उनको अवांछित §अनवोन्टेड§ व्यक्ति बताया गया और आदेश दिया गया कि वे उनके देश को छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जायें । तत्पश्चात् वे उसी जेट विमान से स्वीडन पहुंचे , जहां भी उनका उसी ढंग से स्वागत हुआ और उन्हें बताया गया कि वे उनकी "राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए " एक खतरा हैं , और उनको वहां से तुरन्त चले जाने का आदेश देते हैं ।[102] इस संदर्भ में स्वयं ओशो कहते हैं —" लोग कहते थे कि यूरोप के देशों में स्वीडन सबसे प्रगतिशील है । ऐसा सुनने में आता था कि स्वीडन की सरकार बड़ी उदार है , कि स्वीडन की सरकार बहुत से आतंकवादियों , क्रांतिकारियों और निष्कासित राजनेताओं को शरण देती रही है । ऐसा सोचकर हम स्वीडन पहुंचे । वहां भी हम एक ही रात रुकना चाहते थे । और वहां हम केवल इसलिए रुकना चाहते थे कि हमारे पायलटों को जहाज उड़ाते हुए काफी समय हो चुका था । यदि वे और उड़ान भरते रहते तो ग़ैर-कानूनी हो जाता । ... §परन्तु§ पुलिस ने आकर हमारे वीसा कैंसल कर दिए और हमें एकदम चले जाने को कहा । ... वे हत्यारों को , आतंकवादियों को और

गुंडों को आने दे सकते हैं , उनको शरण दे सकते हैं । लेकिन मुझे नहीं आने दे सकते । मैंने तो उनसे स्थायी शरण भी नहीं मांगी थी । बस रातभर रुकने के लिए इजाजत ही मांगी थी । "[103] इसके पश्चात् वे इंग्लैंड पहुंचे । आठ घण्टे के पश्चात् विमान चालकों को विश्राम देने का एक विश्वजनीन कानून है , तथापि उन्हें वहां विश्राम करने की अनुमति प्रदान नहीं की गई । वे फर्स्ट-क्लास ट्रांजिट-लाउंज में प्रतीक्षा करना चाहते थे , जिसके लिए भी उन्हें अनुमति नहीं मिली । न ही उनको होटल में ठहरने की परमिशन दी गई । फलतः उनको तथा उनके साथियों को शरणार्थियों से भरी एक नन्ही गंदी कोठरी में विश्राम करना पड़ा ।[104]

/5/ मार्च-7 : 1986 :

अपने पर्यटक वीसा पर ओशो रजनीश तथा उनके साथी आयरलैंड आकर लीमरिक होटल में ठहरे , परन्तु दूसरे ही दिन वहां की पुलिस ने उनको तुरन्त चले जाने का आदेश दिया । इस बीच कनाडा भी उनको ईंधन लेने हेतु उतरने से इन्कार कर चुका था , जबकि इस बात की जमानत दी गई थी कि वे विमान से बाहर न निकलेंगे । बहरहाल उन्हें आयरलैंड में तब तक ठहरने की अनुमति मिली , जब तक कि कोई व्यवस्था न हो जाय । इसमें यह शर्त भी शामिल थी कि कोई ऐसा प्रचार-कार्य न हो , जो वहां के अधिकारियों को शर्मिन्दगी में डाल दे । जब वे केरेबियन्स के एण्टीगुआ के लिए प्रतीक्षारत थे , तभी एण्टीगुआ ने अपनी दी हुई अनुमति वापिस ले ली । होलेण्ड ने भी मना कर दिया । जर्मनी अपना "बचाव-अध्यादेश " पहले ही पारित कर चुका था । इटली में उनका आवेदन स्थगित अवस्था में था । इस प्रकार महासत्ताओं के दबाव में आकर सभी छोटे-बड़े देश उन्हें अस्वीकृत कर रहे थे ।[105] इससे एक प्रश्न हमारे मन में उठना चाहिए कि हमारा स्वतंत्रता और स्वायत्तता का दावा कितना सही या कि कितना खोखला है ।

/6/ मार्च-19 : 1986 :

अन्ततः उरूग्वे ने उनको आमंत्रित करने का साहस दिखाया । 19 मार्च 1986 को भगवान रजनीश अपने शिष्यों सहित माटेविडियो आये । उरूग्वे ने उनको स्थायी आवास की भी अनुमति प्रदान की । परंतु यह अधिक न चला । कुछ ही दिनों में वह भी अमरीका के दबाव में आ गया और 18 जून 1986 में ओशो को वह देश भी छोड़ देना पड़ा । वस्तुतः अमरीका टैलैक्स के द्वारा अपनी कूटनीतिक गोपनीय सूचनाओं , जैसे इण्टरपोल की अफवाहों , स्मगलिंग , ड्रगट्राफलिंग, वेश्यागिरी आदि के आरोपों को मेजबान देशों को पहले से ही पहुंचा देता था । जिस दिन उरूग्वे सरकार ने एक प्रेस सम्मेलन में उनके स्थायी आवास की घोषणा की , उसी रात उनके राष्ट्रपति सैंगुनेटिको को यह धमकी दी गयी कि उनका देश यदि रजनीश को स्थायी आवास की अनुमति देगा तो अमरीका अपना छः अरब डालर का ऋण तो वापिस ले ही लेगा , प्रत्युत भविष्य में भी उसे किसी प्रकार का ऋण नहीं दिया जायेगा । रजनीश द्वारा उरूग्वे छोड़ देने पर अमरीकी राष्ट्रपति रीगन ने तुरन्त ही दूसरे डेढ़ अरब डालर का ऋण उरूग्वे को देने की घोषणा की । [106] परन्तु यहां यह तथ्य ध्यातव्य रहेगा कि ओशो की इस ऐतिहासिक विश्वयात्रा में उरूग्वे ही एक ऐसा देश है जो गरीब होते हुए भी , दबावों में होते हुए भी , छः महीने तक ओशो का आतिथ्य करता रहा । यहां रहते हुए ओशो के जो प्रवचन हुए वे उनके कार्य के अगले चरण की नींव बने । अपनी उरूग्वे-यात्रा के के संबंध में ओशो ने बताया है —" मुझे बताया गया कि आंसू-भरी आंखों से उरूग्वे के राष्ट्रपति ने यह कहा कि भगवान के उरूग्वे आगमन से हमें अन्तर्दृष्टि मिली है , कम से कम इससे एक बात तो साफ हो गई है कि हम स्वतंत्र नहीं हैं ।" [107] इस संदर्भ में ओशो की यह टिप्पणी भी अत्यन्त सारगर्भित है —" ऐसा लगता है कि पुराने ढंग की गुलामी तो मिट चुकी है , मानवता राजनैतिक रूप से

अब गुलाम नहीं है , लेकिन एक और बड़ी गुलामी , आर्थिक गुलामी प्रवेश कर चुकी है । " [108] इस संदर्भ में ओशो अमरीका की नीतियों या कुनीतियों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं —" उरुग्वे के राष्ट्रपति ने मुझे सूचना दी कि यह बेहतर होगा कि मैं अपनी विश्वयात्रा रोक दूं , क्योंकि वे मेरे जीवन के विषय में चिंतित थे । राष्ट्रपति ने बताया कि ह्वाईट-हाउस में उन्होंने यह सुना है कि पांच लाख डालर पर एक हत्यारे को मुझे जान से मारने के लिए ~~x~~ भाड़े पर लिया गया है । मैं एक अकेला निहत्था आदमी हूं । और पूरे विश्व इतिहास में अब तक की सबसे बड़ी शक्ति रखने वाला देश एक अकेले निहत्थे आदमी से इतना डरा हुआ है ।" [109]

/7/ जून-19 : 1986 :

उरुग्वे से वे जर्मनी पहुंचे , जहां उनको दश दिन का वीसा प्रदान किया गया था , परंतु उनके वहां उतरते ही अमरीकी वायुसेना का एक जेट विमान भूमिगत हुआ और दूसरे ही दिन उनका वीसा रद्द कर दिया गया । अतः वे मेड्रिड होते हुए लिस्बन आये और कुछ समय के लिए लापता रहे । परंतु कुछ दिनों बाद उनके भूगर्भ स्थित मकान के आसपास पुलिस का पहरा बिठा दिया गया । अतः उन्होंने भारत लौट आने का निर्णय किया । इस प्रकार कुल मिलाकर 21 देशों ने या तो उन्हें निष्कासित किया या उन्हें प्रवेश की अनुमति देने से इन्कार कर दिया । अन्ततः वे जुलाई 29 , 1986 को भारत में — बम्बई में आये । वे एक भारतीय मित्र के यहां उनके निजी अतिथि के रूप में छः महीने रुके । यहां आकर अपने मेजबान के घर में उन्होंने अपने दैनिक प्रवचन शुरू कर दिये । [110] इस संदर्भ में ओशो कहते हैं — " अंधेरे अपना आक्रमण बंद नहीं करते , तो मैं प्रकाश लुटाना कैसे छोड़ दूं ? चार लोगों की ज़िन्दगी बदल जाए तो सूली भी कोई बड़ी चीज नहीं । " [111]

/8/ जनवरी-4 : 1987 :

बम्बई से वे अपने पूना स्थित आश्रम में आ गये , जहां सातवें दशक का उनका बहुलांश समय बीता था । उनके पूणे पहुंचने पर वहां के पुलिस कमिश्नर ने उन्हें विवादास्पद व्यक्ति करार देते हुए शहर छोड़ने का आदेश यह कहते हुए दिया कि उनके कारण शहर की शांति में भंग हो सकता है । दूसरे ही दिन बम्बई हाईकोर्ट ने इस आदेश को रद्द कर दिया । जिस हिन्दू मतांध व्यक्ति ने सन् 1980 में सार्वजनिक प्रवचन के समय उनकी हत्या का प्रयास किया था , उसी व्यक्ति ने अब आक्रमक धमकियां देना शुरू कर दीं कि यदि उसको पूना से निष्कासित नहीं किया गया तो वह अपने दो सौ प्रशिक्षित -- कमाण्डोज को साथ लेकर आश्रम का कब्जा जबरदस्ती ले लेगा । इधर दुनिया के सारे भारतीय दूतावासों में बम्बई हवाई अड्डे पर आप्रवास अधिकारी वर्ग उनके पाश्चात्य शिष्य-समुदाय को भारत में प्रवेश देने से रोकने लगे । 112

/9/ मार्च-15 : 1988 :

इस समय तक स्वतंत्र कही जाने वाली तमाम सरकारों ने उनको एक प्रकार का आंतरिक देश-निकाला तो दे ही दिया था , परंतु उनकी इन तमाम जद्दोजहदों के बावजूद भगवान के हजारों शिष्य विश्व के कोने-कोने से अनेक प्रकार की हैरानगतियों को बरदाश्त करते हुए पूणे पहुंच रहे थे , ताकि अपने सद्गुरू के चरणों में बैठकर उनके प्रवचनों से प्रेरणा का पीयूष ग्रहण कर सकें । 113

यहीं पर .... 19 जनवरी 1990 को , 59 वर्ष की आयु में उन्होंने इस धर देह को त्यागते हुए अक्षरधाम में निवास किया ; क्योंकि बुद्ध, महावीर , कबीर , राम , कृष्ण , ओशो जैसे युगदृष्टा अवतरित होते हैं , उनका निधन नहीं होता , अतः पूणे की उनकी समाधि पर के ये शब्द शतशः यथार्थ हैं -- ' ओशो / जिनका न कभी जन्म

और न मृत्यु
जो केवल 11 दिसम्बर 1931 से 19 जनवरी 1990 तक
इस पृथ्वी ग्रह की यात्रा पर आये । "[114]

ओशो ने शरीर छोड़ते हुए स्वामी जयेश का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा था — " अपना स्वप्न मैं तुम्हें सौंपता हूं । "[115] और ओशो का यह स्वप्न रोज-रोज और इन्द्रधनुषी होता चला जा रहा है । उनका कम्यून पल्लवित हो रहा है , पुष्पित हो रहा है । हजारों साधक यहां आकर रूपांतरित हो रहे हैं । धर देह के विलीनीकरण के उपरांत ओशो के विचारों का , अनुयायियों का व्याप बढ़ रहा है । जो पहले ओशो को न पढ़ते हुए , न जानते हुए , न समझते हुए , न सुनते हुए , सिर्फ नकारने के लिए नकार रहे थे , वे अब ओशो का स्वागत करते हैं । ओशो अब साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में आ रहे हैं , पाठ्य-पुस्तकों में आ रहे हैं । गुजराती के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि-आलोचक-साहित्यकार सुरेश दलाल ने भी एक पुस्तिका ओशो को लेकर लिखी हैं । ओशो के विचारों की तुलना बुद्ध , महावीर , कबीर , गांधी , मार्क्स , डा. बाबासाहब आंबेडकर प्रभृति से हो रही है । ओशो के चिंतनोदधि का अब मंथन हो रहा है , और इस मंथन से नित्य-नवीन रत्न मानवता को उपलब्ध हो रहे हैं । मेरे निर्देशक डा. पारूकांत देसाई "कबिरा" के गुजराती गीत की एक पंक्ति स्मृति में कहीं लहरा रही है — "काप्युं तोये वधी रह्युं छे , व्याप एनो तो वधतो जाय " — ठीक वैसे ही ओशो को मिटाने का न जाने कितनों ने यत्न किया , अमरीका जैसी महासत्ता ने तो "थेलियम" की बूंदें उनके रक्त में उतार दीं , पर क्या हुआ ? आज ओशो अपनी कोटि-कोटि किरणों से इस जगती को प्रकाशित कर रहे हैं , अनेक व्यक्तियों को उर्जस्वित कर रहे हैं , रूपांतरित कर रहे हैं । कबीर की यह पंक्ति फिर हवाओं में गूंज रही है — "हम न मरी

हैं , मरी हैं संसारा । " इसके साथ ही कवि अज्ञेय की वे पंक्तियाँ भी स्मृति में कौंध रही हैं —

" .... यदि ऐसा कभी हो ,
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से , अतिचार से ,
तुम बढ़ो , प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे —
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर कालप्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी । उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम ×। जमेंगे हम । कहीं फिर पैर टेकेंगे ।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार ।
मातः उसे फिर संस्कार तुम देना । " 116

अध्याय के अंत में निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रजनीश , आचार्य रजनीश , ×××××××× भगवान रजनीश , ओशो रजनीश एक अश्रुतपूर्व , अभूतपूर्व , चमत्कारिक , विद्रोही , दिव्य , अलौकिक , अलौकिक , अपांक्तेय , विचक्षण , बहुमेधावी , बहुआयामी व्यक्तित्व हैं । प्रारंभ से ही उनका जीवन अनेक आश्चर्यों एवं साहसों से परिपूर्ण है । भय या डर नामकी चीज उनसे कोसों दूर रही है । बनावटी , व्यवहारू , अप्राकृतिक जीवन उन्हें कभी पसंद नहीं आया । शुरू से ही वे निसर्ग की गोद में रहने के लिए ललकते रहे । सद्भाग्य से उनका शैशव नाना-नानी के आश्रय में बीता , जिन्होंने कोई खास रोक-टोक से काम न लेकर उन्हें एक मनमौजी जीवन जीने दिया । उनकी अकादमिक शिक्षा भी किसी ढर्रे पर नही हुई । प्रारंभ से ही उनमें पढ़ने की आदत थी । वे बहुत पढ़ते थे । जितना पढ़ते थे , उससे अधिक गुनते थे । समाज के हर तबके के लोगों के साथ उनका संबंध था । खानाबदोश , मदारियों , साधु-संतों के टोलों में विचरण करते रहते थे । जानना और निरंतर नया-नया जानते रहना यही उनकी भूख थी । इसके लिए वे जीवन में कई

-कई प्रकार के प्रयोग करते रहे हैं । वे हमेशा अपने शिक्षकों , अभिभावकों, समकालीन चिंतकों , प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों के लिए चुनौती बनते रहे हैं । स्वयं किसी तथ्य को परीक्षित किये बिना , उसे स्वीकारना , यह उनके स्वभाव में कभी नहीं रहा । वे बहुश्रुत थे । पूर्व-पश्चिम के अनेक चिंतकों , विचारकों एवं रहस्यदर्शियों को उन्होंने पढ़ा था , पचाया था । उनकी तर्कशक्ति गजब की है । वे निरंतर गतिशील रहे हैं । कोई वस्तु केवल शास्त्रकार ने कही है , वह गीता या कुरान है× में है , या बाईबल में है , केवल इसीलिए वह सत्य है , ऐसा वे स्वीकार नहीं करते हैं । फलतः रूढ़िवादियों और परंपरावादियों से उनकी कभी नहीं पटी । अपने विचारों की निर्भीक अभिव्यक्ति उनकी खास विशेषता है । इसके कारण उन्हें अमरीका जैसी महासत्ता से भी टकराना पड़ा । उन्होंने अनेक विषयों को लेकर विवाद खड़े किये । कदाचित् इस सदी के वे सर्वाधिक विवादास्पद व्यक्ति रहे हैं । ध्यान , योग , विज्ञान , मनोविज्ञान , इतिहास , दर्शन , समाज-विज्ञान , राजनीति , धर्म , दुनिया के विविध धर्मों का अध्ययन, संसार के नाना विचारकों का अध्ययन इस प्रकार साम्प्रतिक समय का कोई ऐसा विषय तथा ज्वलंत समस्या नहीं होगी जिस पर ओशो ने अपने विचार व्यक्त न किये होंगे । संसार भर में उनके शिष्य हैं और उन्होंने न केवल हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है , प्रत्युत समकालीन भारतीय साहित्यकारों तथा विश्वसाहित्य के दिग्गजों को भी प्रेरित किया है । इस प्रकार हिन्दी साहित्य में उनका जो योगदान है , वह दो प्रकार से है — एक तो स्वयं उनके साहित्य से और दूसरे समकालीन साहित्यकारों को अनेक स्तरों पर उन्होंने प्रभावित किया है , इस दृष्टि से भी ।

===== XXXXXX =====

:: सन्दर्भानुक्रम ::

§1§ अमृता प्रीतम : क्रांतिबीज : प्रारंभिक वक्तव्य से ।

§2§ लेख : खानाबदोश आसमान : धारावाहिक किस्त : 24 वीं : ओशो टाइम्स : 1 मई 1994 : पृ. 14 ।

§3§ वही : पृ. 14 ।

§4§ ×××× द्रष्टव्य : "भगवान रजनीश : ईसा मसीह के पश्चात् सर्वाधिक विद्रोही व्यक्ति : " : सू एपलटन ।

§5§ वही : पृ. 8 ।

§6§ वही : पृ. 3 ।

§7§ वही : पृ. 3 ।

§8§ तब चार्वाक बोले : मदनमोहन तरुण : पृ. 73-74 ।

§9§ द्रष्टव्य : " भगवान रजनीश : ईसा मसीह के .... : पृ. 11 ।

§10§ वही : पृ. 9 ।

§11§ प्रस्तोता : सू एपलटन : वही : पृ. 9 ।

§12§ वही : पृ. 9-10 ।

§13§ कर्मभूमि : उपन्यास : प्रेमचन्द : पृ. 114 ।

§14§ युक्रांद § युवक क्रांति दल § : ××× वर्ष - 1 : अंक - 12 : 16 नवम्बर, 1969 : पृ. 7-8 ।

§15§ युक्रांद : वर्ष-1 : 1-12-1969 : पृ. 20 ।

§16§ नवभारत टाइम्स : 24-9-96 : पृ. 4 ।

§17§ " .... ईसा मसीह के पश्चात् ... : पृ. 10 ।

§18§ " ॐ मणि पद्मोहुम् " : लेख — " नये के लिए आनंद मनाओ " : पृ. 38 ।

§19§ ... ईसामसीह के पश्चात् .. : सू एपलटन : पृ. 10 ।

§20§ वही : पृ. 10 ।

§21§ वही : पृ. 11 ।

§22§ हिन्दी गज़ल : उद्भव और विकास : डा. रोहिताश्व अस्थाना : पृ. 156 ।

§23§ "व्हाय काण्ट वी लीव विधाउट ड्रीम्स : ओशो टाइम्स :
ओगस्ट : 1992 : पृ. 3 ।

§24§ "आचार्य रजनीश : एक परिचय : " महिपाल : भूमिका : पृ. 15

§25§ वही : पृ. 7-8 ।

§26§ वही : पृ. 8 ।

§27§ द्रष्टव्य : ईसा मसीह के पश्चात् ... : सु स्पलटन : पृ. 11 ।

§28§ ॐ मणि पद्मोहुम् " : पृ. 21 ।

§29§ ईसामसीह के पश्चात् ... : पृ. 12 ।

§30§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 12-13 ।

§31§ ओशो टाइम्स : 1-15 अक्तूबर : अंक-19 : पृ. 13 ।

§32§ ईसा मसीह के पश्चात् ... : पृ. 13 ।

§33§ वही : पृ. 13 ।

§34§ ओशो टाइम्स : 15 अक्तूबर , 1992 : लेख -- " भगवान
नहीं भगवत्ता , धर्म नहीं धार्मिकता " : पृ. 3 ।

§35§ लेख -- " हिमालयने हिंडोळे " §गुजराती§ : स्वामी सच्चिदानंद :
संदेश : 15-11-92 : रविवार-पूर्ति : पृ.-1 ।

§36§ द वे आफ द हार्ट : प्रोफेसर पालव्हिलास ।

§37§ द लुक एण्ड आस्ट्रेलियन : रोनाल्ड कोनदे ।

§38§ द्रष्टव्य : ईसा मसीह के पश्चात् ..... : पृ. 14 ।

§39§ लेख -- " नये के लिए आनंद मनाओ " : ॐ मणि पद्मोहुम् "
पृ. 36-37 ।

§40§ द्रष्टव्य : ईसामसीह के पश्चात् .... : पृ. 15 ।

§41§ द्रष्टव्य : " ॐ मणि पद्मोहुम् " : पृ. 37 ।

§42§ वही : पृ. 38 ।

§43§ वही : पृ. 38 ।

§44§ वही : पृ. 38 ।

§45§ वही : पृ. 38 ।

§46§ ईसामसीह के पश्चात् .... : पृ. 15

§47§ ओशो टाइम्स : जनवरी-1997 : ओशो-गाथा से : पृ. 17 ।
§48§ वही : पृ. 16 ।
§49§ ईसामसीह के पश्चात् ... : पृ. 15 ।
§50§ वही : पृ. 16 ।
§51§ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास : डा. पारूकांत देसाई : पृ. 58 ।
§52§ ईसामसीह के पश्चात् ..... : पृ. 16 ।
§53§ वही : पृ. 16 ।
§54§ "ॐ मणि पद्मोहुम् " : पृ. 39 ।
§55§ ईसामसीह के पश्चात् ..... : पृ. 16 ।
§56§ ओशो टाइम्स : वार्षिक अंक : 1992 : पृ. 19 ।
§57§ वही : पृ. 19 ।
§58§ ओशो टाइम्स : जनवरी-1997 : ओशो-गाथा : पृ. 19 ।
§59§ ईसामसीह के पश्चात् .... : पृ. 20 ।
§60§ ओशो टाइम्स : अप्रैल-1997 : पृ. 10 ।
§61§ ईसामसीह के पश्चात् .... : पृ. 20 ।
§62§ वही : पृ. 20 ।
§63§ वही : पृ. 20-21 ।
§64§ वही : पृ. 21 ।
§65§ ओशो टाईम्स : वार्षिक अंक-जनवरी-1993 : पृ. 84 ।
§66§ अथातो भक्ति जिज्ञासा : पृ. 428 ।
§67§ डा. उर्मिलासिंह : ओशो टाइम्स : वार्षिक अंक-1993 : पृ. 86-87 ।
§68§ ओशो टाइम्स : फरवरी -1993 : पृ. 14 ।
§69§ ओशो टाइम्स : फरवरी-1992 : पृ. 21 ।
§70§ ओशो टाइम्स : 16 जनवरी-93 : अंक-2 : लेख — " अल्लाह बेनियाज़ है " : पृ. 6 ।

§71§ ओशो टाइम्स : 16 जनवरी -1993 : पृ. 8 ।

§72§ ईसामसीह के पश्चात् ..... : पृ. 25 ।

§73§ ओशो टाइम्स : मार्च-1993 : अंक-5 ।

§74§ वही ।

§75§ डान्स योर वे टु गोड : 1976 : इन्ट्रडक्शन : पृ-1 ।

§76§ ईसामसीह के पश्चात् .... : पृ. 25 ।

§77§ वही : पृ. 26 ।

§78§ वही : पृ. 29 ।

§79§ वही : पृ. 29 ।

§80§ अxxx× आत्मनेपद : अज्ञेय : पृ. ।

§81§ आधुनिक संदर्भ और धर्म : डा. आर.जी. शर्मा : पृ. 22 ।

§82§ सेवन मिनट्स : इरविंग वालेस : पृ. ।

§83§ ओशो टाइम्स : 16 जनवरी-93 : अंक-2 : लेख -- " न कानों सुना न आँखों देखा " : पृ. 9 ।

§84§ ओशो टाइम्स : 16 मार्च - 93 : पृ. 3 ।

§85§ मोर गोल्ड नगेट्स : पृ. 46 ।

§86§ ओशो टाइम्स : 16 मार्च-93 : पृ. 4 ।

§87§ ईसामसीह के पश्चात् ..... : पृ. 30 ।

§88§ वही : पृ. 31 ।

§89§ ओशो टाइम्स : वार्षिक अंक-1992 : पृ. 79 ।

§90§ लेख -- " हर क्रोस को गिटार बना देना है " : "ॐ मणि पद्मोहुम् " : पृ. 50 ।

§91§ "ॐ मणि पद्मोहुम् " : पृ. 94 ।

§92§ द्रष्टव्य : ए पैसेज टु अमेरिका : मेक्स ब्रेयर ।

§93§ " ॐ मणि पद्मोहुम् " : पृ. 95 ।

§94§ वही : पृ. 95 ।

§95§ वही : पृ. 96 ।

§96§ वही : पृ. 96 ।

§97§ ओशो टाइम्स : जनवरी-1997 : ओशो-गाथा : पृ. 24 ।
§98§ वही : पृ. 24 ।
§99§ वही : पृ. 24-25 ।
§100§ " ॐ मणि पद्मोहुम् " : पृ. 97 । §101§ वही : पृ. 97 ।
§102§ वही : पृ. 97 §103§ ओशो-गाथा : "97" के अनुसार : पृ. 26
§104§ "ॐ मणि पद्मोहुम् " : पृ. 97 §105§ वही : पृ. 98 ।
§106§ वही : पृ. 98 ।
§107§ ओशो टाइम्स : जनवरी-97 : ओशो-गाथा : पृ. 27-28 ।
§108§ वही : पृ. 28 §109§ वही : पृ. 28 ।
§110§ " ॐ मणि पद्मोहुम् " : पृ. 99 ।
§111§ ओशो-टाइम्स : जनवरी-97 : ओशोगाथा : पृ. 28 ।
§112§ " ॐ मणि पद्मोहुम् " : अंतिम परिशिष्ट से : पृ. 100 ।
§113§ वही : पृ. 100 ।
§114§ ओशो टाइम्स : जनवरी-97 : ओशो-गाथा : पृ. 67 ।
§115§ वही : पृ. 67 ।
§116§ दिशांतर : सं. डा. विश्वनाथ तिवारी : पृ. 6-7 ।

======== xxxxxxx ========